SWAMI VIVEKANANDA

·The Hindoo Monk of India·

मासिक

विवेक-ज्योति

वर्ष ३७, अंक १,
जनवरी १९९९,
मूल्य रु. ५.००

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म. प्र.)

जैसे वृक्ष धरती से लवण और जल,
वातावरण से वायु, और सूर्य से ऊर्जा
ग्रहण करता हुआ अपने शरीर को स्वस्थ
रखता है, वैसे ही हे प्रभो! विश्व का
प्रत्येक प्राणी प्रकृति से आवश्यक तत्त्वों
का संचय करता हुआ अपने-आपको
स्वस्थ रखे!

- श्रुति -

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

जनवरी, १९९९

प्रबन्ध-सम्पादक
स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक
स्वामी विदेहात्मानन्द

वार्षिक ५०/- | वर्ष ३७ अंक १ | एक प्रति ५/-

आजीवन ग्राहकता शुल्क (२५ वर्षों के लिए) ७००/-

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (म. प्र.)

दूरभाष २२५२६९, ५४४९५९, २२४११९

शत शत प्रणाम !!!
रामकृष्ण संघ के नये महाध्यक्ष
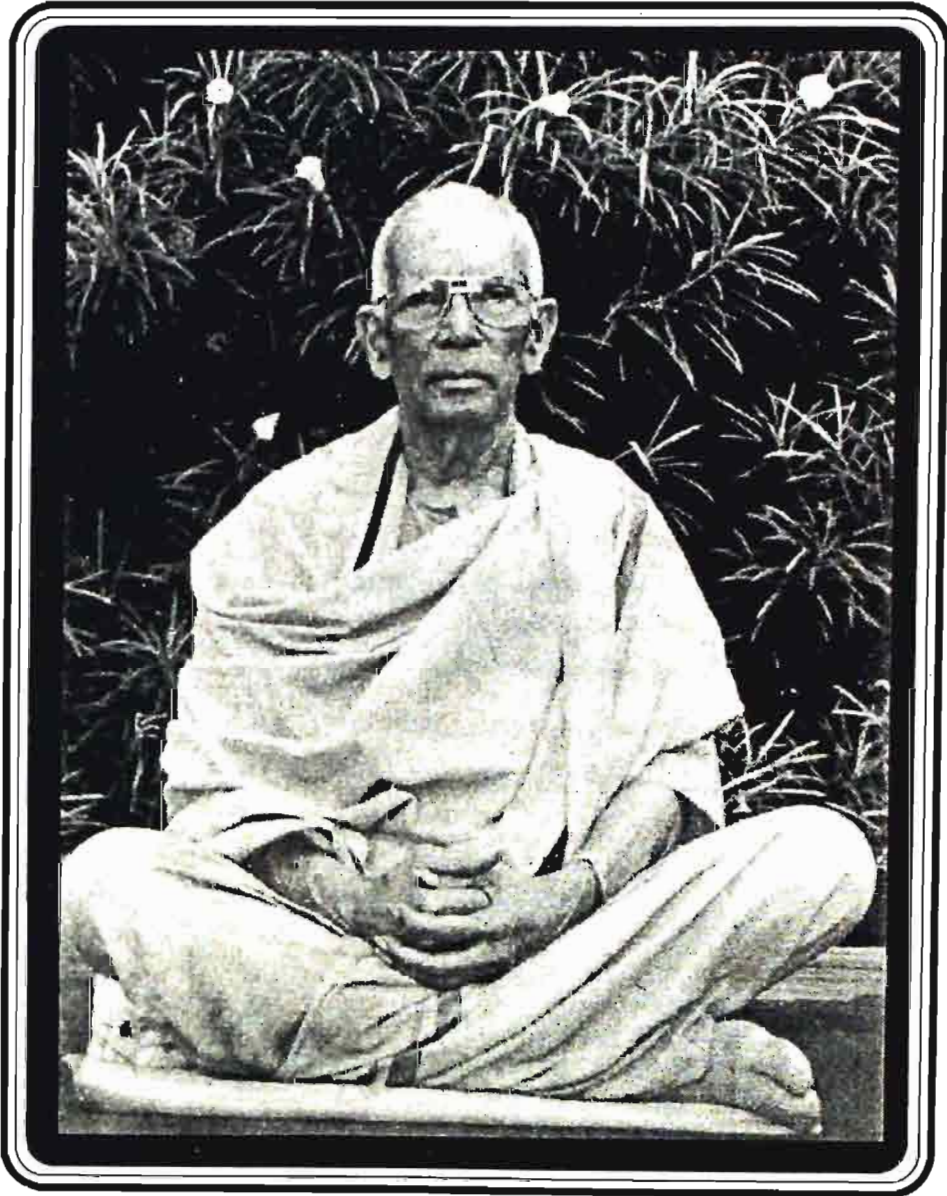
श्रीमत् स्वामी रंगनाथानंदजी महाराज

विगत ७ सितम्बर १९९८ को रामकृष्ण मठ, बेलूड़ के ट्रस्टी मण्डल तथा मिशन की कार्यकारी समिति ने एक बैठक में सर्वसम्मति से श्रीमत् स्वामी रंगनाथानन्दजी महाराज को संघ का नया महाध्यक्ष चुना है। वे संघ के १३वें महाध्यक्ष हैं। अप्रैल, १९८९ से ही महाराज मठ तथा मिशन के उपाध्यक्ष थे और पिछले १० अगस्त को

पूज्यपाद स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज की महासमाधि के बाद से संघ की परम्परा के अनुसार वरिष्ठता के नाते वे ही कार्यकारी संघाध्यक्ष का पद सुशोभित कर रहे थे ।

केरल राज्य के तिरुकुर नामक ग्राम में १५ दिसम्बर, १९०८ को महाराज का जन्म हुआ था । १८ वर्ष की अल्पायु मे ही, १९२६ ई. में उन्होंने रामकृष्ण संघ के मैसूर केन्द्र में प्रवेश लिया । श्रीरामकृष्ण के पार्षद तथा रामकृष्ण संघ के द्वितीय महाध्यक्ष स्वामी शिवानन्दजी महाराज से उन्होंने मंत्र-दीक्षा प्राप्त की और १९३३ ई. में उन्हीं से महाराज को विधिवत संन्यास-दीक्षा भी प्राप्त हुई थी । संघ के मैसूर तथा बंगलोर केन्द्रों में रहते हुए १२ वर्षों तक सेवा प्रदान करने के बाद, १९३९ से १९४२ तक वे रंगून (म्यान्मार) में स्थित रामकृष्ण मिशन सोसायटी के सचिव रहे, तदुपरान्त १९४२ से १९४८ तक उन्होंने रामकृष्ण मठ तथा मिशन, कराची (अब पाकिस्तान में) के प्रमुख का उत्तरदायित्व निभाया। १९४९ से १९६२ तक मिशन के नई दिल्ली केन्द्र के सचिव रहने के बाद १९६२ से १९६७ तक वे कलकत्ता स्थित 'इन्स्टीट्यूट ऑफ कल्चर' (संस्कृति-संस्थान) के सचिव रहे । १९७३ से जनवरी १९९३ तक वे रामकृष्ण मठ, हैदराबाद के अध्यक्ष थे ।

१९४६ से १९७२ के दौरान उन्होंने उत्तरी तथा दक्षिणी अमेरिका, एशिया, अफ्रीका तथा यूरोप के लगभग ५० देशों की व्यापक व्याख्यान-यात्राएँ की, जिनमें रूस, पोलैण्ड तथा चेकोस्लोवाकिया भी शामिल हैं । वेदान्त के प्रचार-प्रसार हेतु वे १९७३ से १९८६ के दौरान प्रतिवर्ष आस्ट्रेलिया, अमेरिका, हॉलैण्ड तथा जर्मनी की यात्रा करते रहे । वे एक अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति-सम्पन्न वक्ता हैं, जिनके भावोत्तेजक व्याख्यानों से भारत तथा विदेशों के हजारों लोग मुग्ध हुए है । उनके व्याख्यान अनेक पुस्तकों के रूप मे प्रकाशित हुए हैं, जिनमें प्रमुख हैं – The Message of Upanishads (उपनिषदों का सन्देश), Eternal values for a Changing Society(परिवर्तनशील समाज के लिए सनातन आदर्श) (चार भागों मे) : I. Philosophy and Spirituality(दर्शन तथा आध्यात्मिकता), II. Great Spiritual Teachers(महान धर्माचार्य), III. Education for Human Excellence (मानवीय उत्कृष्टता हेतु शिक्षा), IV Democracy for Total Human Fullfilment (मानवीय परिपूर्णता के लिए प्रजातंत्र), A Pilgrim looks at the World(एक तीर्थयात्री का विश्वदर्शन), Vedanta and the Future of Mankind (वेदान्त और मानवता का भविष्य) तथा Social Responsibilities of Public Administrators (जन-प्रशासकों का सामाजिक दायित्व) । इनके अतिरिक्त उनके द्वारा गीता के प्रत्येक श्लोक की व्याख्या के २८ वीडियो-टेप तथा श्रीरामकृष्ण, स्वामी विवेकानन्द तथा वेदान्त पर बहुत से ऑडियो-टेप उपलब्ध हैं, जो काफी लोकप्रिय हए हैं । □

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ५४६६०३)

।। आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ।।

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

वर्ष ३७ **जनवरी, १९९९** अंक १

मोह से दुर्दशा

रात्रिः सैव पुनः स एव दिवसो मत्वा मुधा जन्तवो
धावन्तुद्यमिनस्तथैव निभृतप्रारब्धतत्तत्क्रियाः।
व्यापारैः पुनरुक्तभूतविषयैरित्थंविधेनामुना
संसारेण कदर्थिता वयमहो मोहान्न लज्जामहे।

अन्वय – रात्रिः (यह रात) पुनः सा एव (पिछली रात के समान है) दिवसः (आज का दिन भी) स एव (वैसा ही है), मत्वा (यह जानकर भी) उद्यमिनः (उद्यमों में लगे) जन्तवः (लोग) निभृत-प्रारब्ध-तत्-तत्-क्रियाः (छिपे हुए प्रारब्ध द्वारा परिचालित उस एक ही कार्य में लगे रहते हैं) तथा-एव (उसी प्रकार) पुनः-उक्त-भूत-विषयैः (फिर उन्हीं भोगे हुए विषयों से सम्बन्धित) व्यापारैः (कार्यों के पीछे) मुधा (व्यर्थ ही) धावन्ति (दौड़ते रहते हैं)। अहो (अहो!) इत्थं-विधेन (इस प्रकार के) अमुना (परिवर्तनशील) संसारेण (संसार के द्वारा) कदर्थिता (दुर्दशाग्रस्त होकर भी) वयं (हम) मोहात् (अज्ञान के कारण) न लज्जामहे (लज्जित नहीं होते)।

अर्थ – यह रात पिछली रात के ही समान है, आज का दिन भी वैसा ही है, यह जानकर भी उद्यमों में लगे लोग छिपे हुए प्रारब्ध द्वारा परिचालित उस एक ही कार्य में लगे रहते हैं, उसी प्रकार फिर उन्हीं भोगे हुए विषयों से सम्बन्धित कार्यों के पीछे व्यर्थ ही दौड़ते रहते हैं । अहो ! इस प्रकार के परिवर्तनशील संसार के द्वारा दुर्दशा-ग्रस्त होकर भी हम अज्ञान के कारण लज्जित नहीं होते !

भर्तृहरिकृत वैराग्यशतकम्, ४४

'विवेक-ज्योति' का अभिनव रूप

सम्पादकीय

स्वामी विवेकानन्द ने १७ फरवरी, १८९६ के अपने एक पत्र में अपनी कार्यपद्धति का संक्षेप में निरूपण करते हुए अपने लिखा था – "अद्वैत के गूढ़ सिद्धान्तों में नित्यप्रति के लिए कविता का रस और जीवनदायिनी शक्ति उत्पन्न करनी है; अत्यन्त उलझी हुई पौराणिक कथाओं में से साकार नीति के नियम निकालने हैं; और बुद्धि को भ्रम में डालनेवाली योगविद्या से अत्यन्त वैज्ञानिक तथा क्रियात्मक मनोनिज्ञान का विकास करना है – और इन सबको एक ऐसे रूप में लाना पड़ेगा कि बच्चा बच्चा इसे समझ सके । मेरे जीवन का यही कार्य है ।[१]

भाव-प्रसार का एक सशक्त माध्यम

स्वामीजी मासिक-पत्रिकाओं को आदर्शों के प्रचार-प्रसार का एक सशक्त माध्यम मानते थे । भगिनी निवेदिता ने इस प्रसंग में लिखा है, "भारत की वर्तमान परिस्थितियों में, एक मासिक पत्रिका को एक तरह के सचल स्कूल, कॉलेज तथा विश्वविद्यालय का एकत्र समावेश कहा जा सकता है । इनका प्रभाव अद्भुत है । एक ओर जहाँ ये विचारों का वहन करती हैं, वहीं दूसरी ओर ये लोगों के लिए आत्माभिव्यक्ति का एक साधन उपलब्ध कराती हैं और इनके शैक्षणिक महत्व के विषय में अपनी सहज दृष्टि के चलते ही स्वामीजी अपने गुरुभाइयों तथा शिष्यों द्वारा चलायी जा रही इन पत्रिकाओं के भविष्य के बारे में विशेष आग्रही थे ।"[२] एक अन्य स्थान पर वे लिखती हैं, "वे सदैव ही अपनी कई पत्रिकाएँ आरम्भ करने को उत्सुक रहा करते थे । आधुनिक भारत में शिक्षा-प्रसार की दृष्टि से पत्रिकाओं के महत्व से वे भलीभाँति अवगत थे और उन्हें लगता था कि उनके गुरुदेव का सन्देश तथा उनकी विचार-प्रणाली इस माध्यम के द्वारा और साथ ही व्याख्यान तथा कार्य के द्वारा होना चाहिए । अत: दिन-पर-दिन जैसे वे अपने विभिन्न केन्द्रों के लोकहितकर कार्यों के भविष्य पर विचार करते, उसी प्रकार इन पत्रिकाओं के भविष्य के विषय में भी कल्पना किया करते थे ।"[३]

अपने उपरोक्त भावों का प्रचार करने हेतु स्वामीजी ने अपने जीवनकाल में स्वयं भी

१. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ४, सं. १९६३, पृ. ३८६

२. Complete Works of Sister Nivedita, Vol 1, Ed. 1972, p. 200 ३. Ibid, p.320

अंग्रेजी में 'प्रबुद्ध भारत' तथा 'ब्रह्मवादिन्' और बँगला में 'उद्बोधन' नाम की पत्रिका आरम्भ की थी। इसके अतिरिक्त उनके पत्रों से ज्ञात होता है कि वे स्थानीय भाषाओं में और विशेषकर हिन्दी में भी एक पत्रिका निकालना चाहते थे। २५ सितम्बर, १८९४ को वे न्यूयार्क से अपने गुरुभाइयों के नाम एक पत्र में लिखते हैं, "काली, तुम लोगों को एक मासिक पत्रिका का सम्पादन करना होगा। उसमें आधी बँगला रहेगी, आधी हिन्दी और हो सके तो एक अंग्रेजी में भी। ... जो मठ के बाहर है, उन्हें पत्रिका का ग्राहक बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। गुप्त (स्वामी सदानन्द) से हिन्दी विभाग सँभालने को कहो, नहीं तो हिन्दी में लिखनेवाले बहुत लोग मिल जायेंगे।"[४] अगले वर्ष वे स्वामी अखण्डानन्द को लिखते हैं, "यज्ञेश्वर बाबू ने मेरठ में कोई सभा स्थापित की है, वे हम लोगों के साथ मिलकर कार्य करना चाहते है। सुना है कि उनकी कोई पत्रिका भी है; काली को वहाँ भेज दो, यदि हो सके, तो वहाँ जाकर वह एक केन्द्र स्थापित करे और ऐसा प्रयत्न करे कि हिन्दी में उस पत्रिका का प्रकाशन हो। बीच बीच में मैं कुछ रुपया भेजता रहूँगा।"[५] फिर उसी वर्ष १३ नवम्बर को लन्दन से ही पुनः उन्हें लिखते हैं, "यज्ञेश्वर बाबू ने एक हिन्दी पत्रिका मुझे भेजी है, उसमें अलवर के पण्डित रामचन्द्र ने मेरी शिकागो-वक्तृता का अनुवाद किया है। दोनो सज्जनों को मेरी विशेष कृतज्ञता और धन्यवाद अर्पित करना।"[६]

अपने द्वारा प्रारम्भ की हुई पत्रिकाओ के सफलतापूर्वक संचालन हेतु उन्होंने अपने पत्रों में अनेक महत्वपूर्ण निर्देश भी दिये थे। १४ अप्रैल १८८६ को वे लिखते हैं, "तुम्हारी पत्रिका की लेखन-शैली और उसके विषय लोकप्रिय होने चाहिए। उदाहरणार्थ, संस्कृत-साहित्य की बिखरी हुई अद्भुत कहानियों को ले लो। उन्हें फिर से लोकप्रिय ढंग से लिखने का यह इतना बड़ा सुअवसर है कि जिसके महत्त्व को तुम स्वप्न में भी नहीं समझ सकते। यह तुम्हारी पत्रिका का मुख्य विषय होना चाहिए। जब मुझे समय मिलेगा, तब मैं जितनी कहानियाँ लिख सकता हूँ, लिखूँगा। पत्रिका को विद्वत्तापूर्ण बनाने का प्रयत्न मत करना ...। मैं निश्चित रूप से कहता हूँ कि इस तरह तुम्हारी पत्रिका सारे संसार में पहुँच जायेगी। जहाँ तक हो सके, सरल भाषा का उपयोग करना और तुम्हे सफलता प्राप्त होगी। कहानियों द्वारा नीति-तत्त्व सिखाना पत्रिका का प्रधान विषय होना चाहिए।"[७]

प्रथम प्रयास : समन्वय

हिन्दी में मासिक पत्रिका निकालने की स्वामीजी की इच्छा उनके जीवनकाल में पूरी न हो सकी, परन्तु १९२२ ई. में उन्हीं के द्वारा स्थापित मायावती (हिमालय) के अद्वैत आश्रम ने अपनी कलकत्ता शाखा के माध्यम से 'समन्वय' नाम से एक हिन्दी मासिक निकालना आरम्भ किया। स्वामी माधवानन्दजी इसके सम्पादक थे, जो बाद में रामकृष्ण संघ के नवम महाध्यक्ष हुए। सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' तथा बाबू शिवपूजन सहाय जैसे हिन्दी के मूर्धन्य साहित्यकारों ने भी कुछ काल इस पत्रिका के सम्पादकीय विभाग में कार्य किया था। इन दोनों विभूतियों के अतिरिक्त यह पत्रिका श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी, श्री मैथिली शरण गुप्त,

---

४. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ३, पृ. ३११; ५. वही, खण्ड ४, पृ. ३१२
६. वही, खण्ड ४, पृ. ३६० ७. वही, खण्ड ४, पृ. ३९५

मुंशी प्रेमचन्द, श्रीधर पाठक, पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', लाला कन्नोमल, पं. कामता प्रसाद गुरु, सुमित्रानन्दन पन्त, बाबू गुलाब राय, अयोध्या सिंह उपाध्याय, लाला भगवान 'दीन' आदि हिन्दी के स्वनामधन्य लेखकों तथा कवियों की रचनाओं से विभूषित रहा करती थी।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने इस पत्रिका के आविर्भाव पर 'सरस्वती' के मई (१९२२) अंक में लिखा, "नये पत्रों में समन्वय का नाम उल्लेख करने योग्य है। वह कलकत्ता (नं. २८, कॉलेज स्ट्रीट मार्केट) से प्रतिमास प्रकाशित होता है। छपाई सुन्दर है। वार्षिक मूल्य ३/- है। इसका विषय आध्यात्मिक है, पर विषयों की विवेचना बड़ी सुन्दर रीति से की जाती है।" तदुपरान्त उन्होंने अक्तूबर अंक में 'श्रीरामकृष्ण-सम्प्रदाय और हिन्दी' शीर्षक से पुनः लिखा, "भारत की धार्मिक संस्थाओं में श्रीरामकृष्ण-सम्प्रदाय देश की जो सेवा कर रहा है वह किसी से छिपी नहीं है। इस संस्था का कार्यक्षेत्र केवल भारत ही नहीं है। पाश्चात्य देशों में वेदान्त के प्रचार के लिए उसने बड़ा प्रयत्न किया है। अमरीका में जगह जगह वेदान्त-सोसाइटी और हिन्दू-मन्दिरों की जो चर्चा सुनाई देती है वह इसी के प्रयत्न का फल है। कुछ समय पहले हमारे देश में देशी भाषाओं के प्रति शिक्षित सम्प्रदाय का अवज्ञा का भाव था। कदाचित् इसीलिए साहित्य-सम्बन्धी जो कार्य प्रारम्भ में इस सम्प्रदाय ने किये हैं वे सब अँगरेजी भाषा में ही। धीरे धीरे बँगला तथा मराठी में भी स्वामी विवेकानन्दजी के लेखों का अनुवाद किया गया। किन्तु हिन्दी-भाषा आज तक इनकी सेवा से वंचित ही रही। स्वामी विवेकानन्दजी का मन्तव्य था कि लोगों में धार्मिक तथा राष्ट्रीय विचारों का प्रचार करने के लिए देश की भाषा का ही प्रयोग करना चाहिए। उन्होंने अपने एक प्रभावशाली व्याख्यान में कहा था – जो जाति अपनी देश-भाषा का गौरव बढ़ाने का प्रयत्न नहीं करती, उसका अस्तित्व शीघ्र नष्ट हो जाता है।

"स्वामीजी के इस सिद्धान्त को सम्मुख रख कर अब श्रीरामकृष्ण-सम्प्रदाय के द्वारा समन्वय नामक एक हिन्दी मासिक पत्रिका प्रकाशित की जा रही है। पत्रिका में धार्मिक, राष्ट्रीय तथा कला-कौशल सम्बन्धी लेख निकला करते हैं। साथ ही साथ श्रीस्वामी विवेकानन्दजी के व्याख्यानों का अनुवाद भी पत्रिका में निकला करता है। इसकी भाषा और लेखों के विषय में विशेष कहने की आवश्यकता नहीं। जिन्होंने रामकृष्ण-सम्प्रदाय द्वारा सञ्चालित प्रबुद्ध भारत, उद्बोधन तथा वेदान्त केसरी आदि पत्रिकाएँ पढ़ी होंगी, वे इस बात से अच्छी तरह परिचित होंगे कि इन पत्रों में किस प्रकार के लेख रहते हैं। आशा है कि समन्वय हिन्दी की उन्नति का विधान करने, मातृभाषा को पुष्ट करने तथा जातीय साहित्य को सर्वाङ्ग सुन्दर बनाने में प्रस्तुत रहेगा और हमें विश्वास है कि हिन्दी साहित्य के प्रेमी इस पत्रिका का उचित आदर करेंगे।"

समकालीन 'निगमागम-चन्द्रिका' ने भी १९२४ ई. में अपने जनवरी अंक में इस पत्रिका का स्वागत करते हुए लिखा, "भारतवर्ष में ही क्यों, अन्य सभ्य देशों में भी शायद ही कोई ऐसा शिक्षित पुरुष होगा, जिसने परमहंस श्रीरामकृष्णजी का तथा उनके शिष्य श्रीस्वामी विवेकानन्दजी का नाम न सुना हो। यह मासिक-पत्र उनके ही अमृतमय वचनों को हिन्दी में प्रचार करता है। महात्माओं के एक एक वाक्य में से अमृत टपकता है। स्वामी

विवेकानन्दजी उन श्रेष्ठ पुरुषों में से एक हुए हैं, जिनके लिए भगवान ने स्वयं कहा है –

यद्यदाचरति श्रेष्ठः तत्तदेवेत्तरो जनाः ।
स यत् प्रमाणो कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ।।*

"ऐसे महात्मा के कहे हुए धार्मिक उपदेशों से मनुष्य का कितना कल्याण हो सकता है, 'समन्वय' ने सचमुच ही हिन्दी के एक अभाव की पूर्ति की है । इधर कई पत्र निकले, परन्तु हम दृढ़तापूर्वक कह सकते हैं कि वे 'समन्वय' को नहीं पा सकते । 'समन्वय' पढ़ने से ही हृदय आनन्द से परिपूर्ण हो जाता है, भक्तिभाव उमड़ पड़ता है । भाषा भी ऐसी सरल और सुन्दर है कि समझने में कुछ भी कठिनाई नहीं होती ।"

आठ वर्षों तक सफलतापूर्वक चलने के बाद दुर्भाग्यवश १९२९ ई. में यह पत्रिका बन्द कर देनी पड़ी । इसका कारण बताते हुए, पत्रिका के अन्तिम अंक में 'समन्वय की विदाई' शीर्षक से सम्पादक ने लिखा था, "इस अंक के साथ ही समन्वय के जीवन का अन्त हो जाता है । शुरू से ही हमे ग्राहकों की कमी का सामना करना पड़ा ... और भी कई असुविधाओं को झेलना पड़ा । अन्त में हमने समन्वय का प्रकाशन बन्द कर देने का निश्चय कर लिया । ... जान पड़ता है कि हिन्दी संसार अभी इस ढंग के धार्मिक पत्र के लिए तैयार नहीं हुआ । पर वह दिन दूर नहीं, जब हिन्दी हमारी राष्ट्रभाषा बनेगी और उस समय ऐसे पत्र की माँग देश में अवश्य होगी । क्योंकि उस नवीन जागृति में धर्म-विचारों पर कहीं अधिक ध्यान दिया जायगा और हमारा पूर्ण विश्वास है कि उस समय समन्वय नवीन रूप में फिर से भारतीय जनता के सामने उपस्थित होगा । इस दृष्टि से समन्वय का अदर्शन होना मृत्यु नहीं, वरन् पुनर्जीवन के लिए तैयारी है ।"

विवेक-ज्योति का प्रादुर्भाव

१९६३ ई. में समन्वय की आत्मा मानो पुनर्जीवित हो उठी, जब विवेकानन्द आश्रम (रायपुर) के संस्थापक स्वामी आत्मानन्द जी ने युगनायक स्वामी विवेकानन्द जी की जन्म-शताब्दी के अवसर पर 'विवेक-ज्योति' के नाम से उनके इस स्वप्न के पुनर्रूपायन का बीड़ा उठाया । त्रैमासिक के रूप में प्रारम्भ करने के उपरान्त, बाद में इस पत्रिका को मासिक में परिणत करने की योजना थी, परन्तु रायपुर में कोई अच्छा प्रेस उपलब्ध न हो पाने के कारण ३६ वर्षों तक इसे उसी रूप में चलाने को बाध्य होना पड़ा। इस दौरान इसे मुद्रणार्थ वाराणसी, नागपुर, मथुरा तथा इन्दौर तक की यात्रा करनी पड़ी । परन्तु अब छपाई की तकनीक में क्रान्तिकारी प्रगति हो जाने के कारण इसे रायपुर में ही मुद्रित कर पाना सम्भव हो गया है, अत: इसके जीवन के ३७ वें वर्ष से इसे मासिक में परिणत करने का निर्णय लिया गया है । आशा है 'विवेक-ज्योति' अपने इस नये रूप में भी पूर्ववत ही भगवान श्रीरामकृष्ण, माँ सारदा तथा स्वामी विवेकानन्द के आदर्शों से प्रेरणा लेकर और अपने पूर्वज 'समन्वय' के पदचिह्नों पर चलते हुए भारत की सनातन वैदिक संस्कृति तथा परम्परा की एक सक्षम वाहक सिद्ध होगी । □

---

* गीता, ३/२१

(श्रीमती मृणालिनी बसु को लिखित)

देवघर, वैद्यनाथ,
३ जनवरी, १८९९

माँ,

तुम्हारे पत्र में कई अति कठिन प्रश्नों का जिक्र हुआ है। एक छोटे-से पत्र में उन सबका विस्तारपूर्वक उत्तर देना सम्भव नहीं, परन्तु संक्षेप में लिख रहा हूँ।

(१) ऋषि-मुनि, या देवता, किसी में भी सामर्थ्य नहीं कि वे सामाजिक नियमों का प्रवर्तन करें। जब समाज के पीछे किसी समय की आवश्यकताओं का झोंका लगता है, तब वह आत्मरक्षा के लिए अपने आप ही कुछ आचारों की शरण लेता है। ऋषियों ने केवल उन समस्त आचारों को एकत्र कर दिया है, बस। जैसे आत्मरक्षा के लिए मनुष्य कभी-कभी बहुत से ऐसे उपायों का प्रयोग करता है, जो उस समय तो रक्षा पाने के लिए उपयोगी हों, परन्तु भविष्य के लिए बड़े अहितकर सिद्ध हों, वैसे ही समाज भी कई बार उस समय तो बच जाता है, पर जिस उपाय से बचता है, वही अन्त में भयकर हो उठता है।

यथा, हमारे देश में विधवा-विवाह का निषेध। ऐसा न सोचना कि ऋषियों या दुष्ट व्यक्तियों ने इन नियमों को बनाया है। यद्यपि पुरुष स्त्रियों को पूर्णतया अपने अधीन रखना चाहते हैं, तथापि समाज की तत्कालीन आवश्यकता की सहायता लिए बिना वे कभी सफल नहीं होते। इन आचारों में से दो विशेष ध्यान देने योग्य हैं –

(क) छोटी जातियों में विधवा-विवाह होता है। (ख) उच्च-जातियों में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की संख्या अधिक है। अब यदि हर एक लड़की का विवाह करना ही नियम हो, तो हर बालिका को एक-एक पति मिलना ही मुश्किल है, फिर दो-तीन कहाँ से आयें? इसीलिए समाज ने एक तरफ की हानि कर दी है, यानी जिसको एक बार पति मिल चुका है, उसको वह दूसरा पति नहीं देता; अगर दे तो एक कुमारी को पति नहीं मिलेगा। दूसरी तरफ देखो कि जिन जातियों में स्त्रियों की कमी है, उनमें उपरोक्त बाधा न होने के कारण विधवा-विवाह प्रचलित है।

जाति-भेद तथा अन्य सामाजिक आचारों के सम्बन्ध में भी यही बात है। पाश्चात्य देशों में कुमारियों को पति मिलना दिन-पर-दिन कठिन होता जा रहा है। यदि किसी सामाजिक आचार को बदलना हो, तो पहले देखना चाहिए कि उस आचार की जड़ में क्या आवश्यकता निहित है और केवल उसी के बदलने से वह आचार स्वयं नष्ट हो जाएगा। ऐसा न करके केवल निन्दा या स्तुति से काम नहीं चलेगा।

(२) अब प्रश्न उठता है कि क्या समाज के बनाये हुए ये नियम या सामाजिक संगठन उस समाज के जनसाधारण के हित में हैं? बहुत-से लोग कहते हैं कि हाँ, परन्तु किसी-किसी का कहना है कि ऐसा नहीं है, बल्कि कुछ लोग इसके द्वारा दूसरों की अपेक्षा अधिक शक्ति प्राप्त करके धीरे-धीरे दूसरों को अपने अधीन कर लेते हैं और कुछ छल-बल या कौशल से अपना स्वार्थ सिद्ध कर लेते हैं। यदि यह सच है, तो इस बात का क्या अर्थ कि अशिक्षित लोगों को स्वाधीनता देने में भय है? और फिर स्वाधीनता का अर्थ भी क्या है?

मेरे-तुम्हारे धन आदि छीन लेने में कोई बाधा न रहने का नाम स्वाधीनता नहीं है; बल्कि बिना दूसरों को हानि पहुँचाये तन-मन या धन का स्वेच्छानुसार उपयोग करने का नाम ही स्वाधीनता है। यह तो मेरा स्वाभाविक अधिकार है और उस धन, विद्या या ज्ञान को प्राप्त करने में समाज के प्रत्येक व्यक्ति को समान सुविधा रहनी चाहिए। दूसरी बात यह कि जो लोग कहते हैं – अशिक्षित या गरीब मनुष्यों को स्वाधीनता देने से अर्थात उनको अपने शरीर और धन आदि पर पूरा अधिकार देने तथा उनके वंशजों को धनी और ऊँचे दर्जे के आदमियों के वंशजों की भाँति ज्ञान प्राप्त करने एवं अपनी दशा सुधारने में समान सुविधा देने से वे उच्छृंखल बन जायेंगे, तो क्या वे समाज की भलाई के लिए ऐसा कहते हैं अथवा स्वार्थ से अन्धे होकर? इंग्लैण्ड में भी मैंने इस बात को सुना है कि अगर नीच लोग लिखना-पढ़ना सीख जाएँगे, तो फिर हमारी नौकरी कौन करेगा? मुट्ठी भर अमीरों के विलास के लिए लाखों स्त्री-पुरुष अज्ञान के अन्धकार और अभाव के नरक में पड़े रहें! क्योंकि उन्हें धन मिलने पर, उनके विद्या सीखने पर समाज उच्छृंखल हो जाएगा !!

समाज है कौन? वे लोग जिनकी संख्या लाखों में है? या तुम और मुझ जैसे दस-पाँच उच्च श्रेणीवाले? यदि यह भी सच हो, तो भी तुममें और मुझमें ऐसा घमण्ड क्यों हो कि हम सबको मार्ग बतायें? क्या हम लोग सर्वज्ञ हैं? **उद्धरेदात्मनात्मानम्** – स्वयं ही अपना उद्धार करना होगा। हर कोई अपने-आपको उबारे। ताकि अन्य लोग शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक स्वाधीनता की ओर अग्रसर हो सकें, उसमें सहायता देना और स्वयं उसी तरफ बढ़ना ही परम पुरुषार्थ है। जो सामाजिक नियम इस स्वाधीनता के स्फुरण में बाधक हैं, वे अहितकर हैं और उनके शीघ्र विनाश के लिए प्रयास करना ही उचित है। जिन नियमों के द्वारा सभी जीव स्वाधीनता की ओर बढ़ सकें, उन्हीं की पुष्टि करनी चाहिए। ...

इच्छाशक्ति के बारे में तुम्हारा प्रश्न बड़ा ही सुन्दर है और यही समझने योग्य है। वासनाओं का नाश ही सब धर्मों का सार है, पर इसके साथ इच्छा का भी निश्चय नाश हो जाता है, क्योंकि वासना तो इच्छाविशेष ही का नाम है। अच्छा, तो यह जगत् क्यों हुआ? और इन इच्छाओं का विकास ही क्यों हुआ? कुछ धर्मों का कहना है – बुरी इच्छाओं का ही नाश होना चाहिए, न कि सदिच्छाओं का। इस लोक में कामना का त्याग, परलोक में भोगों के द्वारा पूर्ण हो जाएगा। वैसे विद्वान लोग इस उत्तर से सन्तुष्ट नहीं हैं। दूसरी ओर बौद्ध लोग वासना को दुःख की जड़ और उसके नाश को ही श्रेयस्कर मानते हैं। परन्तु मच्छर मारते हुए आदमी ही को मार डालने की तरह, बौद्ध आदि मतों के अनुसार दुःख का

नाश करने के प्रयत्न में हमने अपनी आत्मा को भी मार डाला है।

सिद्धान्त यह है कि हम जिसे इच्छा कहते हैं, वह उससे भी बढ़कर किसी अवस्था का निम्न परिणाम (रूपान्तरण) है। 'निष्काम' का अर्थ है – इच्छाशक्ति रूपी निम्न परिणाम का त्याग और उच्च परिणाम का आविर्भाव। यह उच्च परिणाम मन और बुद्धि के गोचर नहीं; परन्तु जैसे देखने में अशर्फी रुपये तथा पैसे से अत्यन्त भिन्न होने पर भी हम निश्चित जानते हैं कि अशर्फी दोनों ही से श्रेष्ठ है, वैसे ही वह उच्चतम अवस्था – उसे मुक्ति कहो, निर्वाण कहो या कुछ और – मन-बुद्धि के गोचर न होने पर भी वह इच्छा आदि सभी शक्तियों से बढ़कर है। वह 'शक्ति' नहीं है, तथापि शक्ति उसी का परिणाम है, इसीलिए वह बढ़कर है; यद्यपि वह इच्छा नहीं, पर इच्छा उसी का परिणाम है, अतः वह उत्कृष्टतर है। पहले सकाम, और आगे चलकर निष्काम रीति से ठीक ठीक इच्छाशक्ति के उपयोग का फल यह होगा कि इच्छाशक्ति पहले से बहुत उन्नत दशा को पहुँच जाएगी।

गुरुमूर्ति का पहले ध्यान करना पड़ता है, बाद में उसे लय कर इष्टमूर्ति की स्थापना करनी पड़ती है। जिस पर भक्ति एवं प्रेम हो, वही इष्ट के रूप में ग्राह्य है। ... मनुष्य में ईश्वर-बुद्धि का आरोप करना बड़ा कठिन है, परन्तु सतत प्रयत्न करने से सफलता अवश्य मिलती है। ईश्वर हर एक मनुष्य में विराजता है, चाहे, वह इसे जाने या न जाने; तुम्हारी भक्ति से उस ईश्वरत्व का उसमें अवश्य ही उदय होगा।

तुम्हारा सदैव शुभाकांक्षी,
विवेकानन्द

प्रकाशन विषयक सूचना

(फार्म ४ रूल ८ के अनुसार)

१. प्रकाशन का स्थान	-	रायपुर
२. प्रकाशन की नियतकालिकता	-	मासिक
३-४. मुद्रक तथा प्रकाशक	-	स्वामी सत्यरूपानन्द
३. सम्पादक	-	स्वामी विदेहात्मानन्द
राष्ट्रीयता	-	भारतीय
पता		रामकृष्ण मिशन, रायपुर
स्वत्वाधिकारी		रामकृष्ण मिशन, बेलूड़ मठ

स्वामी रंगनाथानन्द, स्वामी गहनानन्द, स्वामी आत्मस्थानन्द, स्वामी गीतानन्द, स्वामी वन्दनानन्द, स्वामी हिरण्मयानन्द, स्वामी स्मरणानन्द, स्वामी प्रभानन्द, स्वामी भजनानन्द, स्वामी सुहितानन्द, स्वामी श्रीकरानन्द, स्वामी शिवमयानन्द, स्वामी प्रमेयानन्द, स्वामी वागीशानन्द, स्वामी मुमुक्षानन्द, स्वामी सत्यघनानन्द, स्वामी तत्त्वबोधानन्द, स्वामी गौतमानन्द, स्वामी आत्मारामानन्द

मैं स्वामी सत्यरूपानन्द घोषित करता हूँ कि ऊपरोक्त विवरण मेरी जानकारी के तथा विश्वास के अनुसार सत्य हैं।

(हस्ताक्षर)

स्वामी सत्यरूपानन्द

ईमानदारी

स्वामी आत्मानन्द

आज सर्वत्र हमें यह बात सुनने को मिलती है कि ईमानदारी एक गुण नहीं, बल्कि दुर्गुण है। लोग कहते हैं कि जो व्यक्ति ईमानदार है, वह जीवन में उन्नति नहीं कर सकता। इसके कई उदाहरण दिये जाते हैं। यदि व्यापारी या उद्योगपति ईमानदार होगा, तो उसका धन्धा बैठ जायेगा। यदि वह अपनी कमाई सच्चाई से बताता रहे, तो आयकर विभागवाले उसकी लुटिया डुबो देंगे। यदि किसी साल उसे घाटा पड़ा, तो वे उसकी बात नहीं मानेंगे और अधिक आयवाले वर्ष के आधार पर ही घाटेवाले वर्ष में भी उसके आयकर का निर्धारण करेंगे। यदि मातहत कर्मचारी ईमानदार हुआ, तो वह अपने 'बॉस' को खुश नहीं कर सकेगा। चाहे शासन कोई भी विभाग हो, 'बॉस' को खुश करने की प्रक्रिया में मातहत अधिकारी को बेईमान बनना ही पड़ता है – यह बात आज हमें हर जगह सुनाई पड़ती है। इसलिए लोग कहने लगे हैं, 'Honesty does not pay' अर्थात् 'ईमानदारी से काम नहीं बनता'। ईमानदार व्यक्ति को लोग outdated यानी पिछड़ा हुआ मानते हैं।

फिर दूसरे हैं, जो ईमानदारी को एक गुण तो मानते हैं, पर यह कहते हैं कि आज जब सब लोग बेईमान हैं, तब मैं अकेला ईमानदार बनकर क्या करूँगा? उनका तर्क है कि अकेला चना क्या भाड़ फोड़ सकेगा? वे महाभारत के एक वाक्यांश का उद्धरण देते हुए कहते हैं – 'शठं प्रति शाठ्य कुर्यात्' – अर्थात् शठ के प्रति शठता का ही व्यवहार करना चाहिए। यदि दूसरा व्यक्ति सरल और निष्कपट हो, तब तो उसके साथ सरलता और निष्कपटता से पेश आया जा सकता है, पर यदि वह दुष्ट हो, छली और कपटी हो, तब उसके सन्दर्भ में सरलता और निष्कपटता के व्यवहार का कोई मतलब नहीं।

अब ये दोनों तर्क वजनी मालूम होते हैं। मेरे एक सम्मान्य मित्र हैं, जो कभी रविशंकर विश्वविद्यालय के कुलपति थे। उन्हें एक वर्ष अपनी पुस्तकों की रायल्टी मिली। स्वाभाविक ही आय अधिक हुई। वे ईमानदारी की प्रतिमूर्ति हैं। वे अपनी आय का एक नया पैसा तक हिसाब में लाने में भूल नहीं करते। पर आयकर विभागवालों ने उस वर्ष की आय के आधार पर अन्य वर्षों की भी आय पकड़ ली और उनपर आयकर ठोंक दिया। उन्होंने ऋण लेकर आयकर पटाया। यह बात दूसरी थी कि अधिक पटाया गया आयकर उन्हें बाद में लम्बे समय के बाद वापस कर दिया गया, पर उन्हें बहुत मानसिक और शारीरिक परेशानी हुई होगी, इस तथ्य से भला कौन इन्कार कर सकता है? उनके आयकर प्रकरण के सुलझाने में इतना विलम्ब इसलिए लगा कि उन्होंने सम्बन्धित अधिकारियों को खुश करने से मना कर दिया। यह घटना पूर्व में ईमानदारी के विपक्ष में कही गयी दोनों तर्कों को ही पुष्ट करती हैं।

प्रश्न उठता है कि ईमानदारी को तब जीवन में क्यों स्थान दिया जाए? इसलिए कि ईमानदारी ही मनुष्य के अस्तित्व का मूल आधार है, उसका धर्म है। जैसे अग्नि का धर्म ताप है और उसके नष्ट होने पर अग्नि का अस्तित्व ही नष्ट हो जाएगा, वैसे ही ईमान मनुष्य का धर्म है और उसके नष्ट होने से मनुष्यता ही नष्ट हो जाएगी। आज मानवता नाश के कगार की ओर इसीलिए जा रही है कि उसका ईमान टूट रहा है। हम यह दलील तो देते हैं कि ईमानदारी से काम नहीं बनता, पर अपने लिए व्यवहार में ईमानदारी चाहते हैं। यह हमारे जीवन की एक महती विडम्बना है। हम चाहते हैं कि हमें दुनिया से धोखाधड़ी करने की छूट मिलनी चाहिए, पर हम यह नहीं चाहते हैं कि कोई हमसे धोखाधड़ी करे। हम दूसरों से बेईमानी का बर्ताव करने को जमाने की चाल मानते हैं, पर कोई अगर हमसे बेईमानी का बर्ताव करता है, तो नाखुश होते हैं। क्या हम चाहेंगे कि मेरा बेटा, मेरा पति, मेरा भाई, मेरा पिता, मेरा नौकर, मेरा मातहत कर्मचारी मेरे प्रति बेईमान हो? क्या हम पत्नी को हमारे प्रति बेईमान होने की छूट दे सकते हैं? यदि हम ऐसा नहीं कर सकते, तो हमें कतई यह कहने का अधिकार नहीं है कि ईमानदारी से काम नहीं बनता। मनुष्य को अपनी यह दुरंगी चाल बदलनी पड़ेगी। फिर यह जो दलील दी गई कि अकेले हम ईमानदार बनकर क्या करेंगे, उसके उत्तर में कहना यह है कि यदि हम मानवता के हितैषी हैं, तो हमें अपने जीवन से ही ईमानदारी का पाठ शुरु करना होगा। अंग्रेजों की सल्तनत का विरोध अकेले महात्मा गाँधी ने ही शुरु किया। उनका दृष्टान्त हमें प्रेरणा प्रदान करता रहेगा। ◘

आजीवन ग्राहकों को सूचना

मासिक 'विवेक-ज्योति' का आजीवन ग्राहकता शुल्क (पच्चीस वर्षों के लिए) रु. ७०० निर्धारित हुआ है। जिन ग्राहकों ने पिछले पच्चीस वर्षों के दौरान १००, २०० या ३०० रुपये की दर से यह शुल्क जमा किया है, उनसे अनुरोध है कि वे अपने ग्राहक संख्या का उल्लेख करते हुए बाकी राशि का, अपनी सुविधानुसार इकट्ठे या किस्तों में मनिआर्डर या बैंकड्राफ्ट के द्वारा यथाशीघ्र इसी वर्ष (१९९९ ई.) जमा कर दें। भेजी जानेवाली राशि का विवरण इस प्रकार है — ग्राहक संख्या L-९१४ से L-३४१४ तक रु. ६००/- ग्राहक संख्या L-३४१५ से L-३९२५ तक रु. ५००/-; ग्राहक संख्या L-३९२६ से L-४१९३ तक रु. ४००/-

जिन सदस्यों की राशि जनवरी २००० ई. के पूर्व प्राप्त हो जायेगी, उन्हें जनवरी '९९ से पच्चीस वर्षों के लिए नया आजीवन सदस्य बना लिया जायेगा।

नवीनीकरण के लिए बाकी राशि न प्राप्त होने पर जमाराशि में से प्रतिवर्ष का वार्षिक शुल्क (रु. ५०) काट लिया जायेगा और राशि समाप्त हो जाने पर अंक भेजना स्थगित कर दिया जायेगा। — *व्यवस्थापक*

श्रीरामकृष्ण-वचनामृत-प्रसंग

(चौसठवाँ प्रवचन)

स्वामी भूतेशानन्द

(रामकृष्ण संघ के भूतपूर्व महाध्यक्ष स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज ने पहले बेलूड मठ और तदुपरान्त रामकृष्ण योगोद्यान, कलकत्ता में 'कथामृत' पर बँगला में जो धारावाहिक रूप से प्रवचन दिये थे, वे संकलित होकर छह भागों में प्रकाशित हुई हैं। इसकी उपदियता को देखते हुए हम भी इसे धारावाहिक रूप से यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। तीन खण्डों का प्रकाशन पूरा हो चुका है। इस अक के लिए चौथे खण्ड से हिन्दी अनुवाद किया है श्री राजेन्द्र तिवारी ने, जो सम्प्रति श्रीराम सगीत विद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं। – सं.)

ध्यान का स्थान

श्रीरामकृष्ण की मणिलाल के साथ वार्तालाप हो रही है । मणिलाल पूछते हैं – "उपासना के समय उन (ईश्वर) का ध्यान किस जगह करेंगे?" उत्तर में श्रीरामकृष्ण कहते हैं, "हृदय तो खूब प्रसिद्ध स्थान है । वहीं उनका ध्यान करना ।"

जप-ध्यान करते समय अनेक लोगों के मन में प्राय: यही प्रश्न उठता है । ध्यान करने के विविध प्रकार के विधान हैं – सहस्रार में, भ्रूमध्य में, कण्ठ में, हृदय में तथा विभिन्न चक्रों में ध्यान करने की बात कही गई है । मन को नीचे के चक्रो से क्रमश: ऊर्ध्व चक्रों में अथवा निम्न भूमि से उच्च भूमि में ले जाना होता है ।

ठाकुर ने हृदय को प्रसिद्ध स्थान कहा । यही स्थान ध्यान करने के लिए सभी लोगों के लिए अनुकूल है । भगवान हृदय में विराजमान हैं, वहीं उनका ध्यान करना होता है । जैसा कि रामप्रसाद के गाने में है – "स्नेहमयी काली-माँ को यत्नपूर्वक हृदय में रखो ।" सामान्य साधक के लिए हृदय के साथ ध्यान का गहरा सम्बन्ध है । तथापि असाधारण साधक के लिए और भी ऊँचाई पर, भ्रूमध्य में अथवा सहस्रार में ध्यान करने का विधान है । साधारण साधक के लिए कहा गया है कि गुरु का ध्यान सहस्रार में तथा इष्ट का ध्यान हृदय में करना चाहिए । एक बात ध्यान में रखनी होगी कि कोई भी एक नियम सभी के लिए अनुकूल होना आवश्यक नहीं है । तो भी जो अधिकांश लोगों के लिए उपयोगी है, उसी को उपयुक्त स्थान मानकर ठाकुर कहते हैं, "हृदय प्रसिद्ध स्थान है ।" भ्रूमध्य में ध्यान करना कठिन है । कई बार भ्रूमध्य में दृष्टि स्थिर करने का प्रयास करने से नेत्रों में दोष आ जाता है ।

साकार और निराकार ध्यान

निराकार उपासकों के लिए भ्रूमध्य में ध्यान करना उचित माना जाता है । किन्तु यहाँ पर ठाकुर ने निराकार ध्यान के लिए भी हृदय का ही निर्देश दिया है । मणिलाल निराकारवादी हैं और ठाकुर उनसे हृदय में ध्यान करने को कहते हैं ।

साकार ध्यान का जो अर्थ हम समझते हैं, वह है मूर्ति का ध्यान अथवा उस मूर्ति के

साथ जो गुण ओत-प्रोत भाव से जुड़े हुए हैं, उनका ध्यान। ध्यान का अर्थ है चिन्तन। चिन्तन रूप का भी हो सकता है और गुण का भी। यथा, जब हम ईश्वर के किसी भी रूप का चिन्तन करते हैं, तो वे पवित्र, करुणामय, सर्वशक्तिमान, सर्वेश्वर आदि हैं – ये सारे गुण मन में तत्काल आ जाते हैं। अत: ये सारे गुण भी चिन्तन के विषय हुए। इस प्रकार हम समझ सकते हैं कि मूर्ति का चिन्तन हृदय में करना है। और निराकार का चिन्तन कैसे किया जाता है? इस विषय में शास्त्र में कहा गया है – हृदय में जो आकाश है, उस अन्तराकाश में चिन्तन करना होगा। तथापि निराकार का चिन्तन कठिन है। इसलिए कहते हैं कि उसके साथ कुछ और भी जोड़ दो। कभी ज्योति, कभी नीहारिका, कभी नक्षत्र-पुँज, कभी उज्ज्वल ब्रह्मज्योति अथवा कभी ब्रह्मसत्ता से सब कुछ व्याप्त है – ऐसा चिन्तन करना चाहिए। परन्तु स्मरण रहे कि यह निराकार भी पूर्णत: निराकार नहीं है, क्योंकि एक विशिष्ट आकृति भले ही न हो, पर ज्योति भी तथा धुँआ या कोहरा भी एक एक आकार हैं। आकार का केवल इतना ही अर्थ नहीं है कि उसमें हाथ-पाँव या अंग-प्रत्यंग विद्यमान हों। आकार का तात्पर्य उस गुण से है, जिसके द्वारा एक वस्तु से दूसरी वस्तु में भेद किया जाता है। वस्तुत: निराकार का चिन्तन अर्थात निर्गुण, निर्विशेष का चिन्तन साधारण साधक के लिए असम्भव है। इसलिए उसे भी किसी-न-किसी प्रतीक का आधार लेकर चिन्तन करना पड़ता है। धुँआ, नीहारिका, कोहरा, ज्योतिपुँज आदि – ये सब प्रतीक हैं। इन प्रतीकों के सहारे उस निराकार ब्रह्मवस्तु का चिन्तन किया जाता है। मनुष्य की क्षमता इतनी सीमित है कि वह निराकार का चिन्तन नहीं कर सकता। वह अवयवयुक्त साकार रूप का ही चिन्तन कर सकता है। कभी वह दो हाथ, कभी चार हाथ अथवा कभी दस-बीस हाथ आदि की कल्पना करता है। इससे भी जब उसका जी नहीं भरता तो उन्हें अनन्तबाहु, अनन्तपाद, अनन्तशीर्ष आदि कहता है। अर्थात ईश्वर का चिन्तन करते समय मनुष्य जिन रूपों से परिचित है, उन्हीं का और विस्तार करके, ज्योति या तेज को बढ़ाकर उसे ईश्वर का स्वरूप मानता है। गीता (११/१२) में कहा है कि उनका ज्योतिर्मय रूप में चिन्तन करना पड़ता है। कहा है कि यदि हजार सूर्य एक साथ आकाश में उदित हों, तो उनसे होनेवाले प्रकाश के साथ कदाचित भगवान के प्रकाश की तुलना हो सकेगी या शायद उससे भी नहीं।

अभिप्राय यह है कि जब हम ईश्वर की कल्पना करते हैं, तो अपने द्वारा अनुभूत वस्तुओं को ही और भी बढ़ाकर, और भी विशाल रूप देकर, मानो उसे असीम बनाकर, उसका भगवान के प्रतीक के रूप में चिन्तन करते हैं। इसलिए बिल्कुल निराकार-रूप में उनका चिन्तन करना बड़ा कठिन है। आगे ठाकुर कहते हैं – "वह भी किया जा सकता है।" ज्ञानी के लिए भ्रूमध्य तथा सहस्रार में ध्यान करना शायद अधिक उपयुक्त हो, परन्तु भक्त के लिए हृदय ही सबसे उपयोगी स्थान है। भाव के आवेग में जब हम भगवान का चिन्तन करते हैं, तब हृदय ही उसके लिए उचित स्थान है, क्योंकि भीतर से जब किसी भाव का उच्छ्वास उठता है, तो हम वहीं उसके स्पन्दन का अनुभव करते हैं। उपनिषद में कहा गया है – **हृदयेन एव विजानाति** – हृदय के द्वारा ही मनुष्य जानता है। हृदय कोई जानने का यन्त्र नहीं है। फिर उपनिषद में ही कहा गया है – **हृदि अयं इति हृदयम्** – वे यहाँ हैं,

अत: इसको हृदय कहा जाता है । यह व्याकरण-सम्मत नहीं, बल्कि एक रूढ़ अर्थ हैं । इस प्रकार हृदय में भगवान का ध्यान करने की प्रथा प्राचीन काल से ही चली आ रही है । इसीलिए ठाकुर कहते हैं, "हृदय तो प्रसिद्ध स्थान है" ।

मणिलाल निराकारवादी ब्राह्म हैं, इसलिए ठाकुर उन्हे बताते हैं – "कबीर कहते थे, **'निर्गुण तो है पिता हमारा और सगुण महतारी । काको निन्दौं काको बन्दौं दोनों पल्ले भारी'।।"** अर्थात साकार मेरी माँ है और निराकार पिता । दोनों ही अपने है । हम दोनों को ही ग्रहण कर सकते है । किसकी वन्दना करेंगे और किसकी निन्दा, दोनों समान रूप से पूज्य है, समान रूप से आकर्षक हैं, किसी भी एक भाव का आश्रय लेने से ही हुआ । "हलधारी दिन मे साकार भाव में और रात को निराकार भाव मे रहता था ।" कहने का तात्पर्य यह है कि दोनों में कोई विरोध नहीं है । जो साकार भाव में रहता है, उसे निराकार में नहीं जाना चाहिए या फिर उसे वह भाव अपनाने में कोई बाधा हो, ऐसी बात नहीं । और निराकारवादी यदि साकार भाव से भगवान का चिन्तन करता है, तो उसमें भी कोई दोष नहीं होता । हमारे मन का स्वभाव ही ऐसा है कि जब हम निराकार भाव में चिन्तन करने की सोचते हैं, तब भी प्रत्यक्ष रूप से नहीं तो परोक्ष रूप से ही हम उन्हें साकार कर लेते हैं । कोई-न-कोई आकार हम उनको दे ही डालते है, भले ही उसमें हाथ-पाँव हो या न हो । जैसा कि ईसाई लोग सलीब का और मुसलमान काबा का चिन्तन करते हैं ।

विश्वास से ही वस्तु की प्राप्ति होती है

इसके बाद श्रीरामकृष्ण कहते हैं – चाहे साकार पर ही विश्वास करो या निराकार पर, लेकिन विश्वास पक्का अर्थात दृढ़ होना चाहिए । विश्वास के फलस्वरूप मनुष्य वस्तु की प्राप्ति करता है । इस विषय में वे शम्भु मल्लिक का उदाहरण देते हैं । शम्भु मल्लिक ने कहा था, "क्या! मैं भगवान का नाम लेकर निकला हूँ, फिर मुझे विपत्ति!" मानो भगवान का नाम लेकर निकलने पर कोई विपत्ति ही नहीं आ सकती । विश्वास से ही सब होता है। ठाकुर ने अन्य कई स्थानों पर भी इस विश्वास का माहात्म्य बताया है । एक व्यक्ति समुद्र के पार जाना चाहता था । विभीषण ने उसकी धोती के छोर में कुछ बाँध दिया और बोले – अब तुम समुद्र पर चलते हुए पार जा सकते हो । वह विश्वासपूर्वक चला जा रहा था कि सहसा उसके मन में प्रश्न उठा – उन्होंने यह ऐसी कौन-सी चीज बाँध दी है कि मैं समुद्र पर चलने में समर्थ हो रहा हूँ? खोलकर देखा तो बस 'राम' लिखा हुआ था । वह बोल उठा, "इतना ही!" ऐसा कहते ही वह डूब गया । विश्वास शिथिल हो गया था, इसलिए वह डूब गया । ऐसा ही ईसा की जीवनी में भी है । एक बार वे रात को अपने शिष्यों के साथ नौका पर समुद्रयात्रा कर रहे थे । सहसा नीद खुलने पर उनके प्रधान शिष्य पीटर ने देखा कि ईसा नाव मे नहीं हैं । इसके बाद उन्होंने देखा कि वे पानी पर चले आ रहे हैं । चकित होकर पीटर बोले, "प्रभु! आप पानी पर कैसे चल रहे हैं? ईसा ने कहा, "तुम भी चल सकते हो । विश्वास के बल से ऐसा होता है ।" – "मैं भी चल सकता हूँ?" – "अवश्य ।" पीटर नाव से उतरे । देखा कि वे सचमुच ही पानी पर चल पा रहे है । किन्तु कुछ देर बाद ज्योंही उनके मन में सन्देह उठा कि डूबने लगे । बोले, "प्रभो! मुझे बचाइये ।

ईसा पीटर का हाथ पकड़कर उन्हें नाव में खींचते हुए बोले, "तुम अल्प-विश्वासी हो, इसीलिए डूब रहे हो ।" ठाकुर भी यहाँ कहते हैं कि विश्वास में बहुत शक्ति है । तदुपरान्त कहते हैं, "सरल और उदार हुए बिना यह विश्वास नहीं होता ।" साधारण लोगों के मन में कभी विश्वास होता है और फिर क्षण भर बाद ही सन्देह आ जाता है ।

भगवती दासी पर कृपा

इसके बाद भगवती दासी आई । ठाकुर करुणामय हैं । सबके कल्याण के लिए ही देह धारण किया है । इसलिए चाहे कोई पापी-तापी भी क्यों न हो, सबके लिए उनके द्वार खुले हैं । भगवती का पूर्वचरित्र दूषित था । तथापि ठाकुर उसके साथ खूब अन्तरंगता से बातें करते हैं । सहानुभूति पाकर उसने साहसपूर्वक चरण छूकर प्रणाम किया । ठाकुर अपने स्थान से उछल पड़े, मानो बिच्छू ने डंक मार दिया हो । उन्होने गंगाजल से अपने पाँव धोये । यह देख सभी स्तब्ध रह गये । भगवती भी मर्माहत हुई । ठाकुर कहने लगे, "तुम लोग ऐसे ही प्रणाम करना । पाँव में हाथ लगाने की जरूरत नहीं ।" अभिप्राय यह कि यद्यपि वे सबके पाप-ताप ग्रहण करने ही आये हैं, तथापि उनका शरीर इतना पवित्र है कि किसी अपवित्रता का लेशमात्र स्पर्श भी वे सहन नहीं कर पाते । कहते हैं कि अवतारी पुरुषों का शरीर ऐसा ही शुद्ध-सत्वमय होता है । अशुद्धि की जरा-सी आँच लगने पर उन्हें असह्य पीड़ा होती है । यह एक स्मरणीय बात है । इसीलिए कभी कभी ठाकुर के भक्तगण भी उनका स्पर्श करने में संकोच करते थे । भगवती दासी द्वारा यह चरणस्पर्श ही एकमात्र दृष्टान्त नहीं है । ऐसी घटनाएँ तो प्राय: ही उनके साथ रहनेवालों के देखने में आती थीं । परन्तु इतनी पीड़ा के बावजूद उनके मन में भगवती दासी के प्रति नाराजगी का भाव नहीं आया । उन्होने केवल इतना ही कहा – तुम लोग ऐसे ही प्रणाम करना ।

वैसे जो लोग ठाकुर की जीवनी से परिचित हैं, उन्हें पता है कि तत्कालीन अभिनेत्रियों का चरित्र ठीक न होने पर भी वे ठाकुर के चरण छूकर प्रणाम करती थीं । ठाकुर भी 'माँ आनन्दमयी, माँ आनन्दमयी', कहकर उनका प्रणाम स्वीकार करते थे । तब तो चरण छूने पर उन्हें पीड़ा का बोध नही होता था । फिर भगवती द्वारा चरणस्पर्श को वे क्यों नहीं सहन कर सके? उनके इस आचरण के पीछे केवल इतनी बात नहीं है कि भगवती का चरित्र पहले ठीक नहीं था, शायद इसके पीछे कुछ अन्य व्यक्तिगत कारण रहा हो, जिसे उन्होंने व्यक्त नहीं किया । अत: ऐसा केवल एक दृष्टान्त लेकर ही कहीं हम ठाकुर के करुणामय रूप को संकुचित न कर डालें । उनकी करुणा सबके प्रति प्रवाहित हो रही है । अधम, पतित से लेकर साधु-सन्त, यहाँ तक कि ब्रह्मज्ञ तक – सभी ने उनकी करुणा पाई है । इसलिए ठाकुर को हम ऐसी संकुचित दृष्टिवाले नहीं मान सकते । तथापि शरीर में पीड़ा होना स्वाभाविक है ।

चैतन्यदेव के अन्तिम दिनों में उनके अन्तरंग भक्त सदा उन्हें घेरे रहते थे, ताकि कोई अपवित्र व्यक्ति उनका स्पर्श न कर सके या कोई ऐसी बात न कह दे, जिससे उनके शुद्ध भाव को आघात लगे । शुद्ध शरीर होने से अशुद्धि का स्पर्श तक सहन नहीं होता, असह्य पीड़ा होती है । यह अवतारी व्यक्ति के जीवन में जैसा प्रस्फुटित होता है, वैसा अन्यत्र नहीं

दिखता । वैसे उनकी भी यह एक विशेष अवस्था है । उनकी ऐसी अवस्था भी होती है, जब वे शुद्धि-अशुद्धि के परे अवस्थान करते हैं । वहाँ उन्हें कोई स्पर्श-दोष नहीं होता । किन्तु जब वे जीवों के प्रति करुणा करके निचले स्तर पर उतर आते हैं, तब अपने शरीर के साथ लेशमात्र भी अशुद्धि का स्पर्श होने से उन्हें अतीव पीड़ा का अनुभव होता है । ठाकुर के सन्दर्भ में यह बात हमें यहाँ तथा अन्यत्र भी देखने को मिलती है ।

श्रीमाँ कहती थीं, "किसी किसी के प्रणाम करने से देह शीतल हो जाती है और किसी किसी के करने पर पाँवों में जलन होने लगती है । अत: यह प्रणाम करनेवाले के भाव पर निर्भर करता है । ठाकुर के जीवन में अन्यत्र ऐसा हुआ है कि एक न जाने कैसे व्यक्ति के द्वारा चरणस्पर्श करने पर उनके पाँवों में जलन हुई । वे बड़ी देर तक गंगाजल से पाँव धोते रहे । बाद में उन्होंने कहा था, "देखो, लोग जैसा-तैसा पाप करके आते हैं और यहाँ प्रणाम तथा चरणस्पर्श करते हैं, तब वह सारा पाप मुझे लेना पड़ता है ।" वे किस प्रकार इसे ग्रहण करते हैं? यह कैसे सम्भव होता है? इस बात को हम समझ नहीं सकते । दूसरों का कर्मभोग स्वयं ग्रहण करते समय वे कहते – भोग इस शरीर के द्वारा हो गया । उस पीड़ाभोग की तीव्रता हमारी कल्पना के परे है । जो पाप करके आया है, उसकी पीड़ा का शमन करने के उद्देश्य से वे स्वयं ही उस पीड़ा को ग्रहण करते हैं ।

ईसाई-मत में भी है – Vicarious atonement (विकेरियस एटोन्मेण्ट) – ईसामसीह दूसरों का पाप लेकर, उसका प्रायश्चित करने को स्वयं सूली पर चढ़े थे । ठाकुर यह सब नहीं जानते थे, पढ़ा नहीं था, थोड़ा-बहुत सुना भर था । वे कहते थे कि जो लोग यहाँ आते हैं, उनका पाप-ताप लेना पड़ता है । इस शरीर के द्वारा उसका भोग हो जाता है । एक बार उन्होंने कहा था, "अच्छा, यह गले का रोग क्यों हुआ? इस जीवन में, इस देह से तो किसी तरह का कोई गलत कार्य नहीं हुआ । तो फिर ऐसा क्यों हुआ? फिर वे स्वयं कहते हैं – जो लोग आते हैं, उनका पाप-ताप लेना पड़ता है ।" यही Vicarious atonement (विकेरियस एटोन्मेण्ट) है, अर्थात अवतारी पुरुष द्वारा किसी व्यक्ति के पाप का प्रायश्चित हो जाना, जो साधारण व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं है । अत: कहीं हम ऐसा न समझ लें कि किसी एक व्यक्ति का पाप दूसरा ग्रहण कर सकता है और उसका प्रायश्चित कर सकता है । अवतार को छोड़ कोई अन्य ऐसा नहीं कर सकता । स्वामीजी ने भी कहा है – केवल अवतारी पुरुष ही ऐसा कर सकते हैं, कोई दूसरा नहीं ।

करुणामय ठाकुर ने भगवती के मन का दु:ख समझा था । इसलिए भगवान का नाम सुनाकर उसके दु:ख को भुलाने के लिये वे कहते हैं, "कुछ गाते हैं, सुन" – और उसे एक एक कर उन्होंने तीन भजन सुनाए ।

पाप-पुण्य, समर्पण और आत्मस्वरूप में अवस्थान

इस प्रसंग में दो बातें स्मरणीय है । एक तो यह कि अवतारी पुरुष चाहें तो दूसरों के पाप-ताप अपने ऊपर लेकर अपने शरीर के द्वारा उसका भोग करते हैं । और दूसरी बात यह कि वे जिस पाप का भार लेते हैं, उसके फलस्वरूप जो कष्ट होता है, उसका उन्हें भोग करना पड़ता है । इसलिए भक्तगण कभी भी ठाकुर को अपना पाप-ताप अर्पित नहीं करते

थे । अब प्रश्न उठता है कि हम भगवान को अपने पाप-ताप अर्पित करें या नहीं? अवश्य करेंगे । क्योंकि जब ठाकुर देहधारण करके आये थे, तो उनके शरीर के कष्ट उन्हें पीड़ा पहुँचायेंगे – ऐसा सोचकर सम्भव है हम उन्हें अपने पापभार न भी सौंपें, परन्तु जब वे भगवत्स्वरूप हैं, परमेश्वर हैं, तब उन्हें छोड़कर और किसे देंगे? अत: सारे पाप-पुण्य उन्हें अर्पित किये जाते हैं और ऐसा उचित भी है । उचित इसलिए है कि मनुष्य के सामने मुक्ति का अन्य कोई मार्ग नहीं है । जन्म-जन्मान्तरों के हमारे अनन्त पाप-पुण्यों का बोझ संचित है, जिन्हें भोग करके समाप्त करना सम्भव नहीं है । यहाँ स्मरणीय है कि पाप के द्वारा पुण्य और पुण्य के द्वारा पाप खण्डित होता है – हमारी यह धारणा सही नहीं है । इसमें जोड़-घटाना नहीं होता । पुण्य के फल भोगने पड़ते हैं और पाप के भी फल भोगने पड़ते हैं । **'अवश्यमेव हि भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्'** – शुभ तथा अशुभ, दोनों प्रकार के कर्मों का फल भोगना पड़ता है । यह शास्त्र का निर्देश है । भोग किये बिना कोई बच नहीं सकता । यदि ऐसा है, तो फिर जन्म-जन्मान्तर के अनन्तकाल से हमने जिन पाप-पुण्यों का संचय किया है और जिसका बोझ वहन करते हुए हम आवागमन कर रहे हैं, उससे मुक्ति का क्या उपाय है? मुक्ति का बस एक ही उपाय है और वह यह कि भगवान को सब कुछ समर्पित कर देना । उनके चरणों में सब कुछ समर्पित कर देने से मनुष्य इन पाप तथा पुण्य – दोनों से छुटकारा पा लेता है । परन्तु केवल मुख से सर्वस्व-अर्पण कह देने से नहीं होगा, सही अर्थों में करना होगा । जब कोई उनके चरणों में अपना सर्वस्व समर्पित कर देता है, तब वह पाप-पुण्य के हाथ से छुटकारा पा लेता है । पाप और पुण्य दोनों ही बोझ हैं । एक को लेने पर दूसरे को भी लेना ही पड़ता है । क्योंकि प्रत्येक कर्म के भीतर भले-बुरे का सम्मिश्रण रहता है । हम चाहे जो भी करें, उनमें कुछ-न-कुछ अच्छा और कुछ-न-कुछ बुरा भी रहता है । अब इस अच्छे-बुरे मिश्रित कर्मफलों को हम युग युग से संग्रह करते आ रहे हैं और नये कर्म करने के साथ ही उसमें वृद्धि भी होती जाती है । अत: इस बोझ से मुक्ति का उपाय क्या है? इन सबको भोगकर समाप्त करना, तो अनन्त जन्मों में भी सम्भव नहीं होगा ।

अत: इनसे छुटकारा पाने के दो उपाय हैं – एक तो यह कि हम अपना सारा भार भगवान के चरणों में अर्पित करके निश्चिन्त हो जायँ । निश्चिन्त हो जाने का अर्थ यह नहीं कि पाप को दे दिया और पुण्य को अपने पास रख लिया, बल्कि पाप और पुण्य दोनों को उनके चरणों में अर्पित करके निश्चिन्त हो जाना । एक तो यह हुआ और दूसरा उपाय है – दृढ़तापूर्वक विश्वास करना कि 'मैं कर्ता नहीं हूँ' । यदि खूब प्रबल विश्वास हो, तो पाप-पुण्य हमें स्पर्श नहीं कर सकते । स्वयं को अकर्ता समझकर ऐसा अनुभव करना होगा कि 'मैं कर्ता नहीं, भोक्ता नहीं, बल्कि शुद्ध आत्मा हूँ' । और शुद्ध आत्मा में किसी कर्मफल का भोग नहीं होता । स्मरण रहे कि केवल मुख से 'मैं अकर्ता हूँ' कहने से नहीं चलेगा । यदि अन्तर में बोध हो कि 'मैं अकर्ता हूँ', तो कर्मों का फल हमें स्पर्श नहीं करता । जैसे किसी अन्य व्यक्ति के कर्म का फल हमें नहीं भोगना पड़ता, हमें उसका वहन नहीं करना पड़ता, ठीक वैसे ही जब हम स्वयं को अकर्ता समझते हैं तो हमें अपने कर्मों का फल भी नहीं वहन करना पड़ेगा । गीता (५/७-८) में कहा गया है – **'कुर्वन्नपि न लिप्यते** – कर्म करता हुआ भी वह लिप्त नहीं होता', क्योंकि वह जानता है कि मैं कुछ भी नहीं कर रहा हूँ । **नैव**

किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् – तत्त्वज्ञ पुरुष कर्म करें, तो भी जानना कि वे कुछ नही कर रहे हैं, क्योंकि शुद्ध आत्मा निष्क्रिय है । यही बात यदि निश्चित रूप से जान लिया जाय, तो कर्मफल का भोग नही करना पड़ता । यह हुआ दूसरा उपाय ।

इस प्रकार एक हुआ भक्ति के द्वारा और दूसरा ज्ञान के द्वारा । एक है भक्तिभाव से उनके चरणों में सर्वस्व अर्पित कर देना और दूसरा है 'आत्मज्ञान' । ज्ञान के द्वारा यह जान लेना कि आत्मा अकर्ता है – इसके द्वारा व्यक्ति कर्म के बन्धन से मुक्त हो जायगा । मीमांसकों में एक और भी उपाय था, जिसका खण्डन किया जा चुका है । वह उपाय यह था कि मैं बुरे कर्म छोड़कर केवल भले कर्म करूँगा और उन भले कर्मों को भी निर्लिप्त भाव से करूँगा। परन्तु यह तो भविष्य का बात हुई, वर्तमान में जो बोझ है, उसका क्या होगा? इसलिए कहा जाता है कि इस प्रकार से कभी कर्मक्षय नहीं हो सकता । कर्म के फलों को काट-पीटकर कभी उन्हें समाप्त नहीं किया जा सकता । तात्पर्य यह कि एक भला कर्म करके उसके द्वारा बुरे कर्मफल को काट दूँगा, ऐसा नहीं होता । चोरी किया, जालसाजी की और उसके बाद कुछ रुपये दान कर दिया, तो उससे काम नहीं होगा । उस दान का फल यदि कुछ हुआ तो सम्भव है कभी मिले, परन्तु जो चोरी-जालसाजी हुई है उसका फल भी भोगना पड़ेगा । फिर इस प्रकार स्वार्थ के चलते जो दान किया जाता है, उसका भी भला फल नहीं होता । ऐसा विचार केवल स्वयं को ही धोखा देना है । इस बात को समझ लेना होगा कि कर्मफल को भोगना ही पड़ेगा । परन्तु शरणागत होकर उनके चरणों में सर्वस्व अर्पित कर देने पर या स्वयं को अकर्ता जान लेने पर इस कर्मफल के हाथों से छुटकारा पाया जा सकता है ।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ।। (गीता, ४/३७)

– जैसे चाहे जितनी भी लकड़ी क्यों न हो, अग्नि सबको जलाकर पूरी तरह राख कर देती है, वैसे ही ज्ञानाग्नि समस्त कर्मफल को भस्म कर देती है ।

इस ज्ञान के द्वारा समस्त कर्म भस्मसात हो जाते हैं, अत: आत्मा को कोई भोग नहीं करना पड़ता, वह किसी अन्य बन्धन में नहीं पड़ता। परन्तु न तो ज्ञानाग्नि प्रज्ज्वलित करना सहज है और न ही उन्हें सर्वस्व समर्पण करना । ऊपरी तौर से यदि हम भले ही कहें कि 'हे प्रभो, मैंने अपना सब कुछ तुम्हें सौंप दिया है', परन्तु साथ ही स्वयं से प्रश्न करना होगा कि क्या मैंने सचमुच ही दिया है? केवल मौखिक बोलने से नहीं चलेगा, स्वयं विचार करना होगा । यदि सचमुच ही सौंप दिया तो मन में कोई बुरी प्रतिक्रिया नहीं उठेगी । ऐसी बात मन में नहीं आएगी कि इस कर्म का फल मेरा है । जैसे सब कुछ उन्हें सौंपकर निश्चिन्त होना कठिन है, वैसे ही स्वयं को अकर्ता बोध करना भी अत्यन्त कठिन है ।**(क्रमशः)**
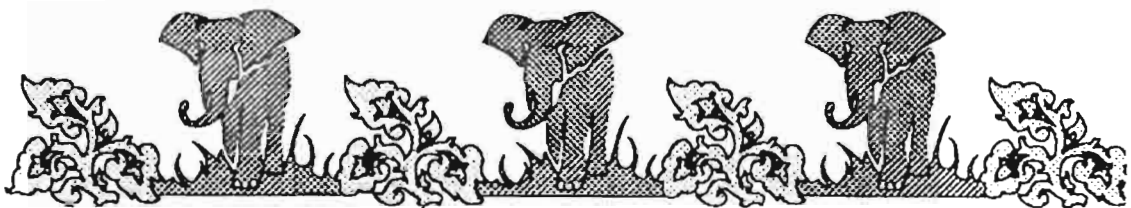
अपील

श्रीरामकृष्ण मठ
मयलापुर,
चेन्नई - ६०० ००४

श्रीरामकृष्ण का सार्वभौमिक मन्दिर

प्रिय मित्रो,

स्वामी विवेकानन्द की प्रेरणा से १८९७ ई. में इस मठ की स्थापना हुई, जो अपने बहु-आयामी सेवाओं के सौ वर्ष पूरे कर चुका है। अनेक वर्षों से भक्तों तथा अनुरागियों की यह हार्दिक इच्छा थी कि मठ के परिसर में श्रीरामकृष्ण का एक भव्य मन्दिर का निर्माण हो।

श्रीरामकृष्ण समन्वय तथा सार्वभौमिकता की प्रतिमूर्ति थे और उनका सन्देश वर्तमान युग की आशाओं तथा आकांक्षाओं को पूरा करता है, अतः उनका मन्दिर भी सार्वभौमिक भावों से युक्त होगा और इसमें उनकी पूरे आकार की सगमरमर की मूर्ति लगायी जायेगी।

श्रीरामकृष्ण के अन्य मन्दिरों तथा परम्परागत दक्षिण भारतीय स्थापत्य के सम्मिश्रण से बननेवाले इस मन्दिर में १००० भक्त एक साथ बैठकर प्रार्थना तथा ध्यान कर सकेंगे। इस मन्दिर पर लगभग साढ़े छह करोड़ अनुमानित लागत आयेगी।

रामकृष्ण सघ के भूतपूर्व अध्यक्ष श्रीमत् स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज ने १ दिसम्बर, १९९४ ई. को इस मन्दिर की आधारशिला रखी। मन्दिर का निर्माण सन्तोषजनक रूप से प्रगति पर है और नयी शताब्दी के आरम्भ में इसका उद्घाटन होने की सम्भावना है।

इस तरह के एक विशाल तथा पुनीत कार्य को सभी की शुभेच्छा तथा सहयोग के द्वारा ही पूरा किया जा सकता है। उदारतापूर्वक दान के द्वारा इस परियोजना में सहभागी होने के लिए हम आप सभी को आमंत्रित करते हैं। इस मद में दिये जानेवाले सभी दान आयकर से मुक्त हैं। रेखांकित चेक या ड्राफ्ट 'Ramakrishna Math, Chennai' के नाम से बनवाकर भेजें। आपका दान कृतज्ञता के साथ स्वीकृत तथा सूचित किया जायेगा। हम आपके उत्तर की प्रतीक्षा करेंगे।

प्रभु की सेवा में
स्वामी गौतमानन्द
अध्यक्ष

मानस-रोग (३०/१)

पण्डित रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द जयन्ती समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'मानस' के वर्तमान प्रकरण पर कुल ४५ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत अनुलेखन उनके तीसवें प्रवचन का पूर्वार्ध है। टेप से इन्हें लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्रीराम सगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापन करते हैं। – स०)

पिछले प्रवचन में ईर्ष्यावृत्ति पर चर्चा चल रही थी। ईर्ष्या की तुलना शरीर के कण्डुरोग या खुजली से करते हुए गोस्वामीजी कहते हैं कि यह खुजली की तरह संक्रामक है। यह ईर्ष्यावृत्ति केवल बुरे लोगों में नहीं होती, बल्कि जिन्होंने बुराइयों पर विजय पा लिया है, वे भी प्रायः ईर्ष्या से नहीं बच पाते। आप लोगों ने यह प्रसिद्ध दोहा अवश्य सुना होगा –

कंचन तजना सहज है, सहज त्रिया का नेह।
मान बड़ाई ईरषा, दुरलभ तजना एह ॥

– कामिनी तथा कांचन पर विजय पानेवाले व्यक्ति मिल जाएँगे, लेकिन जिनके मन में मान-सम्मान तथा बड़प्पन की आकांक्षा न हो, ऐसा व्यक्ति समाज में अत्यन्त दुर्लभ है।

रामचरितमानस के विविध प्रसंगों में मानस-रोगों के जो दृष्टान्त दिए गए हैं, वे व्यावहारिक तथा पारमार्थिक – दोनों ही दृष्टियों से बड़े महत्वपूर्ण हैं। व्यावहारिक सन्दर्भ में एक सूत्र बड़े महत्व का है, जिसकी चर्चा पिछले प्रवचन में सांकेतिक रूप में चल रही थी। वह यह कि जिस व्यक्ति में ईर्ष्या की वृत्ति होती है, वह स्वयं तो रोगग्रस्त है ही, लेकिन जो लोग अपने व्यवहार से इस ईर्ष्यावृत्ति को बढ़ावा देते हैं, वे भी कम अपराधी नहीं हैं। रामराज्य ही 'मानस' का आदर्श है। रामकथा के अन्त में रामराज्य का वर्णन किया गया है। दो बार रामराज्य की स्थापना का प्रयास हुआ था। एक बार महाराज दशरथ ने प्रयास किया। उन्होंने घोषणा भी कर दी थी कि कल अयोध्या के सिंहासन पर राम आसीन होंगे। परन्तु उनका यह प्रयास सफल नहीं हो सका। दूसरी बार यह प्रयास भरत ने किया और वे सफल हुए। लंका-विजय के बाद जब भगवान राम अयोध्या आते हैं और तब रामराज्य की स्थापना होती है। रामराज्य का वर्णन करते हुए गोस्वामीजी कहते हैं कि रामराज्य में व्यक्तियों में परस्पर विरोध अथवा शत्रुता नहीं थी। यह बड़े महत्व की बात है और रामराज्य का एक महत्वपूर्ण सूत्र है। इसका सीधा अर्थ यह है कि जिस समाज या राष्ट्र में परस्पर वैर-विरोध होगा, वहाँ रामराज्य की स्थापना नहीं हो सकती।

रामराज्य में व्यक्ति व्यक्ति के बीच परस्पर वैर-विरोध नहीं है। रामराज्य क्या कोई ऐसा विलक्षण जादू है कि बिना किसी व्यावहारिक परिवर्तन के ही ऐसा हो गया? ऐसी बात नहीं

है। इस विषय में एक बड़ा ही सुन्दर और महत्वपूर्ण सूत्र दिया गया। वैर-विरोध होता क्यों है ? ईर्ष्या के मूल में क्या है ? गोस्वामीजी कहते हैं –

बयरु न कर काहू सन कोई। रामप्रताप विषमता खोई॥ ७/२०/८

वैर-विरोध और ईर्ष्या के मूल में विषमता है और भगवान के प्रताप से अयोध्या में विषमता दूर हो गई है। जिस समाज में विषमता जितनी ही अधिक होगी, वहाँ ईर्ष्या भी उतनी ही प्रबल होगी। समाज में एक व्यक्ति भूखा हो और दूसरा अन्न को बरबाद कर रहा हो, तो इसे देख भूखे व्यक्ति के मन में ईर्ष्या न हो, यह तो बिल्कुल असम्भव है। अतः जहाँ विषमता होगी, वहाँ वैर-विरोध तथा ईर्ष्या अवश्य होगी। जिसके पास अधिक है, वह अपना स्वार्थ बचाने का प्रयास करेगा और जिसके पास अभाव है, वह छीनने की चेष्टा करेगा। इस प्रकार सारा समाज ही संघर्षरत रहेगा। गोस्वामीजी कहते हैं कि भगवान राम के राज्य में विषमता नहीं थी, इसलिए प्रजा में परस्पर ईर्ष्या तथा वैर-विरोध नहीं था।

गोस्वामीजी के इस वाक्य को यदि मूल सूत्र की दृष्टि से विचार करके देखें तो पाएँगे कि इसके पीछे एक दर्शन है और यही भगवान राम के चरित्र का दर्शन है। ईर्ष्या के मूल में जो वैषम्य है, चाहे जाति का हो या धन का, जहाँ कोई भी वैषम्य होगा वहाँ रामराज्य नहीं हो सकता। पहले जब महाराज दशरथ ने रामराज्य की स्थापना का प्रयास किया, तो उसमें बाधा उत्पन्न हो गई। रामराज्य में वह बाधक तत्त्व क्या है? कैकेयी। कैकेयी का चरित्र बड़ा ही विचित्र है। रामायण में कुछ पात्र तो वन्दनीय हैं, यथा श्रीराम, श्रीभरत, श्रीलक्ष्मण, श्रीशत्रुघ्न तथा श्रीहनुमान और कुछ पात्र निन्दनीय हैं, यथा रावण, कुम्भकर्ण, मेघनाद आदि। परन्तु कुछ पात्र ऐसे भी हैं, जिनके लिए यह कहना कठिन है कि उन्हें वन्दनीय मानें या निन्दनीय। इनमें सबसे विलक्षण व्यक्तित्व कैकेयीजी का है। मुझसे जब पूछा जाता है कि कैकेयी वन्दनीय हैं या निन्दनीय? तो मेरे सामने बड़ी समस्या हो जाती है कि क्या कहूँ? कैकेयीजी के विषय में कुछ भी कहना बड़ा कठिन है। इसलिए कि कैकेयीजी की निन्दा करनेवाला व्यक्ति भी इतना महान है कि यह कैसे कहें कि उन्होंने गलत कहा है। लेकिन दूसरी ओर कैकेयीजी की प्रशंसा करनेवाला भी कोई कम बड़ा नहीं है कि हम उनकी बात काटने का साहस करें। उनके ये निन्दक और प्रशंसक कौन हैं? उनकी निन्दा करनेवाले हैं रामायण के सबसे बड़े सन्त श्रीभरत और वे कैकेयी की घोर निन्दा करते हैं। वैसे तो उनकी निन्दा करनेवाले लोग बहुत बड़ी संख्या में थे, पर भरत जी उनमें सबसे आगे थे। ऐसी स्थिति में, जब भरत जैसे सन्त उनकी निन्दा करते हैं, तो यह कहने की इच्छा नहीं होती कि यह ठीक नहीं है। परन्तु दूसरी ओर कैकेयी की प्रशंसा करनेवाले स्वयं साक्षात भगवान श्रीराम हैं। चित्रकूट की भरी सभा में घोषणा करते हुए वे कहते हैं –

दोसु देहिं जननिहि जड़ तेई। जिन्ह गुर साधु सभा नहिं सेई॥ २/२६३/८

– मेरी माता कैकेयी को वही दोष दे सकता है, जिसने कभी साधु-समाज का सेवन नहीं किया है। उन्होंने बड़ी विलक्षण बात कही। अब भगवान राम को प्रामाणिक मानें या भरत

जी को? दोनों ही अपने अपने पक्ष में बड़ी सुन्दर युक्ति का प्रयोग करते हैं। भरतजी जब बोलने लगे, तो उन्होंने स्पष्ट देख लिया कि कैकेयी की निन्दा सुनकर श्रीराम के मुख पर प्रसन्नता नहीं थी। यद्यपि श्रीराम का भरतजी से बड़ा लगाव था, परन्तु भरतजी को लगा कि आज उनकी बात श्रीराम को प्रिय नहीं लग रही है। तब भरतजी ने उन्हें विनम्रतापूर्वक प्रणाम करके अपने कथन की पुष्टि करते हुए कहा, "प्रभो, आपको महारानी कैकेयी की निन्दा अच्छी नहीं लग रही है, आप उनको वन्दनीय मानते हैं। अब वे वस्तुतः निन्दनीय हैं या वन्दनीय, इसका निर्णय हो जाना चाहिए और इसका एक उपाय यह है कि जहाँ मतभेद हो वहाँ निर्णय बहुमत से होता है। अयोध्या के सारे लोग यहाँ उपस्थित हैं। इन सभी से पूछ लिया जाय कि उनकी दृष्टि में महारानी कैकेयी वस्तुतः निन्दनीय हैं या वन्दनीय?" भरतजी को अपना पक्ष रखने में कोई कठिनाई नहीं थी, क्योंकि सचमुच ही वहाँ उपस्थित प्रत्येक श्रोता कैकेयीजी का घोर विरोधी था। भरतजी अपना तर्क प्रस्तुत करते हुए कहते हैं –

जननी कुमति जगतु सबु साखी॥ २/२६२/१

– महाराज, मैं अकेला नहीं, सब लोग साक्षी हैं, अयोध्या का प्रत्येक व्यक्ति महारानी कैकेयी का विरोधी है, उनकी निन्दा करता है, इसलिए मैं समझता हूँ कि मैं गलत नहीं हूँ। भगवान राम समझ गये कि जब सारा समाज कैकेयीजी का विरोधी है, तो इनके सामने कैकेयी की प्रशंसा करना उचित नहीं होगा, क्योंकि श्रोतागण उसे ग्रहण करने को तैयार नहीं होंगे। परन्तु प्रभु तो बड़े चतुर वक्ता हैं। मानस में उनकी प्रशंसा करते हुए कहा गया है –

बोले बचन बिगत सब दूषन। मृदु मंजुल जनु बाग बिभूषन॥२/४०/६

भगवान राम की वाणी समस्त दोषों से शून्य है और वे वचन-रचना के अत्यन्त कुशल कलाकार हैं। परशुराम जी ने भी उनकी वन्दना करते हुए कहा है –

जयति बचन रचना अति नागर। १/२८५/३

भगवान समझ गये कि कैकेयीजी की प्रशंसा करके तो मैं अकेला पड़ जाऊँगा। अतः वे कहने लगे –

तीनि काल तिभुवन मत मोरें। पुण्यसिलोक तात तर तोरें॥ २/२६२/६

– भरत, मैं तो समझता हूँ कि विश्व के इतिहास में तुम्हारे समान पुण्यात्मा न तो हुआ है, न है और न कभी होगा। सभी अयोध्यावासी श्रीराम के मुख से भरतजी की प्रशंसा सुनकर गद्‌गद हो गए। प्रत्येक व्यक्ति को लगा कि भगवान ने कितनी सही बात कही। सचमुच ही भरतजी जैसा महान दूसरा कोई नहीं है। भगवान बोले –

उर आनत तुम्ह पर कुटिलाई। जाइ लोकु परलोकु नसाई॥ २/२६३/८

– अगर तुम्हारे चरित्र पर किसी को सन्देह हो, तो उसका लोक और परलोक दोनों नष्ट हो जाएगा और –

मिटिहहिं पाप प्रपंच सब अखिल अमंगल भार।
लोक सुजसु परलोक सुखु सुमिरत नामु तुम्हार॥ २/२६३

– तुम्हारे नाम का स्मरण करने से मनुष्य के पाप और अमंगल का विनाश हो जाता है। भगवान की बातें सुनकर प्रत्येक श्रोता गद्गद हो रहा है। वे बोले – भरत, मेरी तो मान्यता है कि तुम्हें अयोध्या का राज्य स्वीकार कर लेना चाहिए, क्योंकि –

कहउँ सुभाउ सत्य सिव साखी। भरत भूमि रह राउरि राखी ॥२/२६४/१

– यह पृथ्वी अगर बचेगी तो तुम्हारे बचाने से बचेगी, नहीं तो यह रसातल में चली जाएगी।

जब सारे श्रोता भगवान की बात सुनकर मुग्ध हो रहे थे, तभी उन्होंने अपने भाषण की दिशा बदल दी। उन्होंने पहले श्रोताओं से पूछ लिया – आप लोगों को भरत की महानता पर सन्देह है? – नहीं महाराज, किसी को सन्देह नहीं है। तब भगवान ने पूछा – यदि हमारी कैकेयी अम्बा न होतीं, तो भरत कहाँ से आते? जिस माँ ने भरत जैसे सन्त को जन्म दिया, उन्हें यदि आप लोग निन्दा का पात्र मानें तो इसे मैं उचित नहीं समझता। यह प्रभु की वचन-रचना का कौशल है। वे अपनी इस कला और चतुराई से कैकेयीजी की ऐसी प्रशंसा करते हैं कि लोग उसे अस्वीकार नहीं कर पाते।

परन्तु गोस्वामीजी के सामने यह समस्या आ पड़ी कि भगवान तो कैकेयीजी की प्रशंसा करते हैं और भरतजी निन्दा, अब किसके पक्ष में लिखें? कवि को तो पूरा वर्णन करना है। उन्होंने एक युक्ति ढूँढ़ निकाली। कौन-सी? उन्होंने कैकेयीजी के दो नाम रख लिए। जब निन्दा करनी होती तो कैकेयीजी का एक नाम लेते हैं और प्रशंसा करनी है तो दूसरा। गंगा के किनारे निषाद कैकेयी की निन्दा कर रहे हैं, उस समय गोस्वामीजी कैकेयीजी का कौन-सा नाम लेते हैं? निषादराज ने लक्ष्मण से कहा –

कैकयनंदिनि मंदमति कठिन कुटिलपनु कीन्ह। २/९१

– यह कैकयनरेश की बेटी मन्दबुद्धि है। जब निन्दा करनी है तब 'कैकयनन्दिनी' कहते हैं और जब प्रंशसा करना हो तब? प्रारम्भ में कैकेयीजी ने मन्थरा को बहुत फटकारा था, तब गोस्वामीजी ने यह नहीं कहा कि कैकेयीजी ने मन्थरा को फटकारा –

काने खोरे कूबरे कुटिल कुचाली जानि।
तिय बिसेषि पुनि चेरि कहि भरतमातु मुसुकानि ॥२/१४

किसने फटकारा? बोले – भाई, वे भरतजी की माँ हैं। एक ओर वे 'कैकयतनया' हैं, तो दूसरी ओर 'भरतजननी' हैं। कैकय की पुत्री होना उनके जीवन का निन्दनीय और भरतजी की माँ होना यह प्रशंसनीय पक्ष है। दोनों पक्ष हैं।

अब इन दोनों पक्षों पर विचार करके देखें, तो इससे व्यावहारिक तथा पारमार्थिक - दोनों ही दृष्टियों से प्रेरणा प्राप्त होती है। पारमार्थिक दृष्टि से यदि विचार करें तो यहाँ कैकयनरेश की पुत्री के रूप में कैकेयीजी का वर्णन बड़े महत्व का है। और यदि व्यावहारिक सन्दर्भ में देखें, तो यह स्पष्ट दिखाई देगा कि एक ओर कैकेयीजी अत्यन्त तेजस्विनी और उदार हैं। तेजस्विनी इतनी कि महाराज दशरथ के साथ वे युद्धक्षेत्र में जाती

हैं और उदार इतनी कि महाराज दशरथ के सामने वे यह प्रस्ताव रखती हैं कि अयोध्या का राज्य राम को मिलना चाहिए। इसलिए महाराज दशरथ जब राम के राज्याभिषेक का समाचार लेकर कैकेयीजी के पास आए, तो उन्होंने उस समय यह नहीं कहा कि कल राम को राज्य दूँगा, बल्कि उन्होंने यही कहा –

भामिनि भयउ तोर मनभावा। घर घर नगर अनंद बधावा ॥ २/२७/२

– कैकेयी, तुम जो चाहती थी, आज वही हो गया। तुम जो कहा करती थी कि अयोध्या का राज्य राम को मिलना चाहिए, सो तुम्हारी उस इच्छा को पूर्ण करने हेतु मैंने राम को राज्य देने की घोषणा कर दी है। इस तरह से हम देखते हैं कि कैकेयी के चरित्र में तेजस्विता, उदारता आदि अनेक सद्‌गुण हैं, परन्तु उनमें इतना बड़ा व्यावहारिक परिवर्तन कैसे आया? गोस्वामीजी ने उन्हें 'कैकयनन्दिनी' कहकर एक सूत्र दे दिया और यह बड़े महत्व का सूत्र है। इस परिवर्तन में कई स्तर हैं। यदि व्यावहारिक स्तर पर विचार करें तो लगता है कि मन्थरा कैकेयी के अन्तःकरण को बदलने में सफल हो जाती है, लेकिन पारमार्थिक सन्दर्भ में तो उसका तात्पर्य कुछ दूसरा ही है। आध्यात्मिक सन्दर्भ में कैकेयीजी का स्वरूप क्या है ?

ज्ञानशक्ति कौशल्या सुमित्रोपासनात्मिका।
क्रियाशक्तिश्च कैकेयी वेदो दशरथ स्वरूपकः ॥

– कैकेयीजी क्रियामयी हैं। ये क्रियामयी कैकेयी कैकयनन्दिनी – कैकयनरेश की पुत्री हैं। कैकयनरेश से कैकेयी का जन्म होता है। कैकेयी अर्थात क्रिया के साथ ज़ो समस्याएँ जुड़ी हुई हैं, इसका मूल कारण कैकयनरेश ही है। यह कैकयनरेश कौन है? हमारे अन्तःकरण में 'क्रिया' के रूप में जो कैकेयी है, उसे जन्म देनेवाला 'कर्तृत्व' ही वह कैकयनरेश है। मनुष्य के अन्तःकरण में क्रिया का जन्म होता है। 'मैं कर्म करनेवाला हूँ' – ऐसा मानकर ही व्यक्ति क्रिया करता है। यह 'कर्तृत्व' ही क्रियामयी कैकेयी को जन्म देनेवाला कैकयनरेश है। कैकयनन्दिनी के चरित्र पर यदि हम विचार करें तो पायेंगे कि उनके साथ कुछ समस्याएँ जुड़ी हुई हैं और ये समस्याएँ संसार के प्रत्येक क्रियापरायण व्यक्ति के साथ जुड़ी हुई हैं। इसका सीधा-सा तात्पर्य यह है कि जिस क्रिया के मूल में कर्तृत्व है, वहाँ उसके साथ समस्याओं का जुड़ा होना अवश्यम्भावी है। इसलिए जहाँ भी कर्म का उपदेश दिया गया है, वहाँ पर उसके साथ ही एक अन्य बात भी निश्चित रूप से कही गई है।

गीता में भगवान कर्म पर बड़ा बल देते हैं, अर्जुन को कर्म की दिशा में प्रेरित करते हैं। तो क्या इसका अभिप्राय यह है कि संसार में जो सभी लोग कर्म कर रहे हैं, वे बिल्कुल ठीक कर रहे हैं? ऐसी बात नहीं है। भगवान एक सूत्र देते हैं और वह बड़े महत्व का है। अर्जुन को उपदेश देते हुए वे उन्हें अपने विराट रूप का दर्शन कराते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि प्रारम्भ में जब अर्जुन ने युद्धक्षेत्र में अपने गुरुजनों को देखा, तो उनके मन में ममता उत्पन्न हुई। उन्होंने भगवान के समक्ष बड़ा विस्तृत वर्णन किया। कहा कि यह कितना

भयानक युद्ध होगा, इसका परिणाम कितना भयकर होगा? बड़े-बड़े योद्धा मारे जाएँगे ! और उसके बाद समाज में अनाचार तथा वर्णसकरता फैलेगी और परिणाम यह होगा कि पितरगण अपने लोक से पतित हो जाएँगे। इस प्रकार न केवल वर्तमान में, अपितु भविष्य में भी इस युद्ध का बड़ा भीषण दुष्परिणाम होनेवाला है।

अर्जुन ने ऐसा जो चित्र प्रस्तुत किया, भगवान पर उसका क्या प्रभाव हुआ? उन्होंने इसका कोई उत्तर नहीं दिया। अर्जुन के इस तर्क का गीता में कोई उत्तर नहीं दिखता। गीता में बाकी सब है – भगवान अर्जुन को युद्ध की प्रेरणा दे रहे हैं, परन्तु अर्जुन जिस भयावह भविष्य का चित्र खींच रहे हैं, भगवान उसका खण्डन नहीं करते। वे यह नहीं कहते कि जैसा वे सोच रहे हैं, वैसा नहीं होगा। तो क्या कहते हैं? इस विषय में उन्होंने कुछ कहा ही नहीं। भगवान अर्जुन के इस महत्वपूर्ण प्रश्न को भूल कैसे गए?

इसका सबसे महत्वपूर्ण पक्ष तो यह है कि भगवान पर अर्जुन की इस चिन्ता तथा व्याकुलता का जो प्रभाव पड़ा, वह विलक्षण है। अर्जुन ने इतनी बढ़िया बात कही, उनकी दूरदृष्टि के साथ उन्होंने युद्ध के भावी परिणामों पर विचार किया, इसके लिए भगवान को अर्जुन की प्रशंसा तो अवश्य ही करनी चाहिए थी। परन्तु गीता में लिखा हुआ है –

तमुवाच हृषिकेशः प्रहसन्निव भारत। २/१०

– भगवान अर्जुन की बात सुनकर हँसे। अर्जुन भविष्य की चिन्ता करते हुए उसका चित्र खींचने लगे, तो भगवान को हँसी आ गई। भगवान की हँसी ही उनका व्यंगभरा उत्तर है। उन्हें यह सोचकर हँसी आई कि यह संसार तो मेरा है और इसकी जितनी चिन्ता मुझे नहीं, उससे अधिक तो इस बेचारे को हो रही है। विश्व का निर्माण मैंने किया है और भविष्य में यह मिट जाएगा तो क्या होगा, इसकी चिन्ता यह कर रहा है। बड़ी उल्टी समस्या है।

भगवान समझ गये कि जो चिन्ता ईश्वर को करनी चाहिए, वह जीव ने अपने ऊपर ले ली है। तब अर्जुन की चिन्ता दूर करने हेतु भगवान ने एक बड़ा मनोवैज्ञानिक तथा महत्वपूर्ण कार्य किया। उन्होंने अर्जुन से कहा – मैं तुम्हें विराट-रूप दिखाऊँगा। इसमें एक महत्वपूर्ण संकेत है। यह जो विराट-रूप है, इसे हम ईश्वर के चमत्कार के रूप में तो देख सकते हैं, परन्तु व्यावहारिक सन्दर्भ में इसका क्या अभिप्राय है? इस जगत में हम जब भी, जो भी देखते हैं, केवल ससीम को ही देख पाते हैं और उसे देखने की हमारी दृष्टि भी ससीम है, उसकी एक सीमा है, उससे अधिक दूर तक वह नहीं देख पाती। यदि हम उसके परे देखने की चेष्टा भी करें, तो संसार में जो कुछ है, वह सब दिखाई देना सम्भव नहीं है।

जीव की समस्या यही है कि वह ससीम को ससीम की दृष्टि से देख रहा है। तब भगवान ने अर्जुन को नया दर्शन दिया। बोले – ससीम को तुमने ससीम-दृष्टि से देख लिया, अब असीम को असीम-दृष्टि से देखो। मैं तुम्हें विराट का दर्शन कराऊँगा। यह विराट-रूप दर्शन रामायण में भी है और भागवत में भी है। रामायण में विराट-रूप का दर्शन कौशल्याजी को होता है और भागवत में यशोदाजी को। परन्तु महाभारत में जो विराट-

रूप-दर्शन है, उसमें एक अन्तर है। कौशल्याजी और यशोदाजी ने विराट-रूप का दर्शन किया, अपनी आँखों से, परन्तु गीता में अर्जुन ने इसे अपनी आँखों से नहीं देखा। भगवान ने जब कहा कि मैं तुम्हें विराट-रूप का दर्शन कराऊँगा, तो उसके साथ एक वाक्य जोड़ दिया। बोले – उस विराट-रूप को देखने के लिए मैं तुम्हें दृष्टि भी प्रदान करता हूँ। गीता में अर्जुन ने अपनी दृष्टि से नहीं, बल्कि भगवान द्वारा प्रदत्त दृष्टि से देखा।

अभिप्राय यह है कि विराट को देखने की दो दृष्टियाँ हैं – एक स्वराट की और एक विराट की। विराट को विराट की दृष्टि से देखने का मूल तात्पर्य यह है कि व्यक्ति जब ससीम-दृष्टि से संसार को देखता है, तब उसे आशंका होती है। भगवान अर्जुन से कहते हैं – मैं तुम्हें जो दे रहा हूँ उस दृष्टि से इसे देखो। उस दृष्टि से जब अर्जुन ने देखा तो उसे बड़ा विचित्र दृश्य दिखाई दिया। विराट की दृष्टि से उन्होंने देखा कि सारे योद्धा मरे पड़े हैं। अर्जुन यह देखकर पहले तो घबरा गये, परन्तु बाद में यह सोचकर निश्चिन्तता की साँस ली – चलो अच्छा हुआ, सारे योद्धा मारे गए, मैं इनको मारने के पाप से बच गया और युद्ध भी समाप्त हो गया। अर्जुन ने जिज्ञासापूर्ण दृष्टि से भगवान की ओर देखा, मानो वे कहना चाहते हों – प्रभो, आपने बड़ी कृपापूर्वक दिखा दिया कि भीष्म, द्रोण, कर्ण आदि सब मारे गए, अब तो आप मुझे युद्ध करने का आदेश नहीं देंगे? भगवान बोले – ये जो मरे हुए दिखाई दे रहे हैं, यह तुम अपनी आँखों से देख रहे हो या मेरी दी हुई आँखों से? मेरी दृष्टि से जो सत्य है, वह जब तक जीव की दृष्टि के लिए सत्य नहीं बन जाता, तब तक उसके लिए उपयोगी नहीं है। ईश्वर का सत्य ईश्वर के लिए है। ईश्वर के सत्य को देखकर जीव विवेकयुक्त होता है और उसकी समस्याओं का समाधान तब होता है, जब वह अपनी समस्याओं को विवेक की दृष्टि से देखता है, संसार को भगवान के द्वारा दी गई दृष्टि से देखता है, विराट को विराट की दृष्टि से देखता है। जीव संसार को अपनी दृष्टि से जिस रूप में देख रहा है और उसका व्यावहारिक समाधान खोजने की चेष्टा कर रहा है, यह तो स्वयं ही एक समस्या है। इससे भला समाधान कैसे मिलेगा?

इसीलिए भगवान अर्जुन को एक महान सूत्र देते हैं। अर्जुन पूछ सकते थे – महाराज, यह जो आपने मुझे दर्शन कराया कि सब मरे हुए पड़े हैं, इससे क्या लाभ हुआ? जब मुझे लड़ना ही है, इन योद्धाओं को मारना ही है, तो फिर देखने से लाभ क्या हुआ? भगवान ने कहा – नहीं, इसमें एक बहुत बड़ा अन्तर है। यदि तुम देखे बिना लड़ते तो कहते कि योद्धाओं को मैंने मारा और अब जो तुमने देख लिया है कि ये मरे पड़े हैं, तो तुम समझ लोगे कि मारा तो वस्तुतः ईश्वर ने है, मैं तो केवल निमित्तमात्र हूँ। तुम्हारे कर्तृत्व को मिटाने हेतु मैंने तुम्हें विराट-रूप का दर्शन कराया है। तुम्हारे मन में कर्तृत्व की जगह निमित्तता की वृत्ति आ गई है। बस यही लाभ है। **'मया एव निहताः पूर्वमेव'** – मेरे द्वारा ये पहले ही मारे जा चुके हैं। सत्य क्या है, यह मैंने दिखा दिया और अब तुम्हें क्या करना है, यह भी बता देता हूँ – **निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन** – तुम केवल निमित्त बनो। (११/३३)

अभिप्राय यह है कि क्रिया तो हो, पर कर्तृत्व न हो, बस निमित्तता मात्र हो। अर्जुन को निमित्त बनाकर सबके लिए भगवान का यही उपदेश है। परन्तु संसार में ऐसा बहुत कम होता है। जहाँ क्रिया का जन्म होता है, वहाँ उसका जन्मदाता 'कर्तृत्व' पहले से ही विद्यमान रहता है। कर्तृत्व से ही क्रिया का जन्म होता है। रामायण में कैकेयी के साथ भी यही समस्या है। कैकेयी का जन्म कैकयनरेश से हुआ। कैकयनरेश ही मूर्तिमान कर्तृत्व है। क्रिया के साथ पहले कर्तृत्व और बाद में फलाकांक्षा जुड़ जाती है। ये दोनों बातें हमारे-आपके जीवन में भी हैं। इसका परिणाम वही होता है, जो अयोध्या में हुआ। कैकेयीजी के जीवन में ये दोनों बातें जुड़ी हुई हैं - कर्तृत्व भी और फलाकांक्षा भी। इसी के परिणामस्वरूप अयोध्या में इतना बड़ा अनर्थ होता है। उनके जीवन में कर्तृत्व पिता कैकयनरेश के रूप में जुड़ा हुआ है और फलाकांक्षा भी उनके विवाह के प्रसंग में जुड़ गई। महाराज दशरथ ने जब कहा कि मैं कैकेयी से विवाह करना चाहता हूँ, तो उनके पिता ने पूछा कि इससे मेरी पुत्री को विशेष लाभ क्या होगा? एक नई बात सामने आई। कौशल्याजी से और सुमित्राजी से भी तो महाराज दशरथ का विवाह हुआ था। परन्तु उस समय उनके पिता ने यह प्रश्न नहीं उठाया था। अन्तर यही है। कौशल्याजी ज्ञानमयी हैं। ज्ञान में निष्कामता है। उपासनात्मिका सुमित्राजी में भी फलाकांक्षा की वृत्ति नहीं है। उपासना की चरम सार्थकता तो समर्पण है। इसलिए उन दोनों के विवाह में इस फलाकांक्षा की समस्या नहीं है। पर यहाँ सन्दर्भ क्रिया का है और क्रिया के साथ यह फलाकाक्षा अवश्य जुड़ी हुई होती है। कैकयनरेश ने महाराज दशरथ से पूछ लिया – यदि मैं आपको अपनी पुत्री दूँगा, तो आप मेरी पुत्री को कौन-सा विशेष लाभ प्रदान करेंगे? तो पहले यही निश्चित हो जाए। यह फलाकांक्षा है। यही तो हम भी करते हैं। पहले यह निश्चय कर लेते हैं कि इस कार्य का यह फल हमें मिलना चाहिए। यही उनका भी आग्रह है। क्या चाहते हैं? कहते हैं – मैं आपको अपनी कन्या अवश्य दूँगा, पर बदले में आप यह वचन दें कि मेरी पुत्री का पुत्र ही अयोध्यानरेश होगा। दशरथजी ने सोचा कि कठिनाई क्या है? कौशल्याजी को तो पुत्र ही नहीं हुआ, सुमित्रा को भी नहीं हुआ। अब तो पुत्र यदि होगा तो कैकेयी का ही होगा। इसलिए वचन देने में हानि ही क्या है? उन्होंने तत्काल कह दिया – बिल्कुल ठीक है, मैं वचन देता हूँ कि कैकेयी से जो पुत्र होगा वही अयोध्या के राज्यसिंहासन का उत्तराधिकारी होगा। कर्म के साथ अब फलाकांक्षा भी जुड़ गयी। □

(क्रमशः)
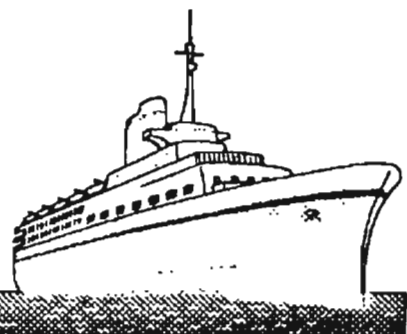
चैतन्य महाप्रभु (४१)

स्वामी सारदेशानन्द

जब शरत्काल की विमल चाँदनी से पुलकित होकर धरणी स्वप्नलोक के समान भासित होती है, जब चमेली, जूही, मल्लिका, शेफाली आदि की सुगन्ध चारों ओर व्याप जाती है, तब समस्त मानवों के अन्तर में इस निखिल सौन्दर्यमाधुरी के स्रोत उन चिर-सुन्दर के दर्शन की लालसा का उदय होता है। भावुकजन के प्राण तब मिलनतृष्णा से व्याकुल हो जाते हैं। इस शारदीय पूर्णिमा की निशा में ही भगवत्कृपा की पराकाष्ठा होती है और भक्तों के साथ प्रेममय के रासक्रीड़ा रूपी प्रेमलीला का अनुष्ठान होता है। ऐसी रातों में चैतन्यदेव को निद्रा आना तो दूर, यहाँ तक कि वे एक स्थान पर स्थिर होकर बैठ तक नहीं पाते थे। तब वृन्दावन-भाव में विभोर होकर वे अपने अन्तरंगों के साथ 'कृष्ण-कथा' अर्थात भागवत आदि शास्त्रों में वर्णित प्रेमलीला का आस्वादन करते हुए रात बिताते। फिर किसी किसी रात वे कृष्णप्रेयसी व्रजांगनाओं के भाव में विह्वल होकर अपने अन्तरंगों के साथ पुरी के उपवनों में भ्रमण करते रहते। भाव प्रगाढ़ हो जाने पर जब वे स्वयं को तथा परिदृश्यमान जगत को विस्मृत कर बैठते, तब उनके समाधि-परिशुद्ध अन्तःकरण की अन्तर्दशा में जगत्कारण सच्चिदानन्द परमात्मा श्रीकृष्ण के माधुर्य-रसमय लीला का स्फुरण होता। फिर उन अलौकिक भावों का उपशम हो जाने पर उनके श्रीमुख से उसका विवरण सुनकर भक्तों के हृदय में भी उल्लास का संचार होता था।

एक दिन इसी प्रकार की एक शारदीय रात में निशानाथ का उदय होने पर जब धरित्री ने अपूर्व श्री धारण किया, तो भावुक संन्यासी भक्तों के संग पुरी के उपवनों में भ्रमण को निकले। सभी के मन अन्तर्मुखी थे और चित्त में वृन्दावनलीला का भाव प्रस्फुटित हो रहा था। एक जगह बैठकर वे लोग भगवान के ध्यान में निमग्न हो गये। थोड़ी देर बाद सहसा स्वरूप का ध्यान टूटा। उन्होंने दृष्टि उठाकर देखा तो चैतन्यदेव वहाँ नहीं थे। चारों ओर दृष्टि फिराकर देखने पर भी स्वरूप को वे कहीं भी दिखाई नहीं दिये। उन्होंने उठकर तलाश किया, उद्यान के भीतर खोजा, परन्तु महाप्रभु का कहीं पता न था। स्वरूप बड़े विस्मित तथा चिन्तित होकर भक्तों के साथ उन्हें ढूँढ़ने निकले और उन्हें खोजने को चारों ओर आदमी भी भेज दिये गये।

स्वरूप कुछ भक्तों को साथ लिए समुद्र तटभूमि पर उनकी तलाश करने लगे। इधर चैतन्यदेव भावाविष्ट होने के बाद, किसी की दृष्टि में आये बिना ही विद्युत-वेग से उद्यान के बाहर आ गये थे और यह देखकर कि चन्द्रकरोज्ज्वल यमुनातट पर श्रीकृष्ण गोपीकागण के साथ लीला कर रहे हैं, वे यमुना समझकर समुद्र में कूद पड़े। उस समुद्र में भाटा चल रहा था, जिसके खिंचाव से उनका शरीर कोणार्क की ओर बह चला। श्रीकृष्ण-लीला की अनुभूति के फलस्वरूप उस समय उनकी अन्तदर्शा थी, देहबोध का पूर्णतः लोप हो चुका था, अतः वे बाह्यसंज्ञारहित थे।

एक धीवर रात में मछलियाँ पकड़ने के निमित्त समुद्र के किनारे जाल फैलाकर बैठा था। भाटा के खिंचाव से आकर प्रभु का अचेत शरीर जाल में फँस जाने पर, उन्हें एक बड़ी मछली समझकर वह जाल को तीर पर खींच लाया। परन्तु निकट जाने पर जब उसने देखा कि यह मछली नहीं मनुष्य है, तब उसके भय व विस्मय की सीमा न रही। मछेरे ने डरते डरते उस अचेत शरीर को निकालकर बालू पर एक किनारे रख दिया। देह का स्पर्श करते ही उसे अपने सम्पूर्ण शरीर में प्रबल सिहरन का अनुभव हुआ। भयभीत धीवर को इससे विश्वास हो गया कि उसे भूत ने पकड़ लिया है, अत: वह जोर-जोर से भगवान का नाम लेता हुआ, शीघ्रतापूर्वक अपना जाल समेटकर तेजी से अपने घर की ओर लौट पड़ा। परन्तु वह भलीभाँति चल नहीं पा रहा था और उस पर भाव का आवेश क्रमश: बढ़ता ही जा रहा था। आखिरकार वह स्वयं को सँभाल नहीं सका और मुख से निरन्तर हरिनाम लेते हुए वह हँसते-रोते, नाचते-गाते पागल के समान चलने लगा।

स्वरूप भी अपने संगियों के साथ चैतन्यदेव की खोज करते हुए उसी ओर चले जा रहे थे। थोड़ी दूर जाकर उनकी मछेरे के साथ भेंट हुई। उसका भाव देखकर स्वरूप बड़े विस्मित हुए और उससे पूछने लगे, "ऐसा क्यों कर रहे, भाई?" धीवर ने बड़े ही भीत एवं कातर स्वर में कहा, "महाराज, आज तो मैं बड़ी विपत्ति में पड़ गया था। मैं हर रात समुद्रतट पर जाल बिछाकर मछलियाँ पकड़ता हूँ, नृसिंह-नाम के प्रताप से मैं कभी किसी विपत्ति में नहीं पड़ा। पर आज बड़ी मुश्किल हो गयी, मेरे जाल में एक मुर्दा फँस गया था। खींचकर निकालते ही, उसके भीतर के भूत ने मुझे पकड़ लिया है। वह मुझे किसी भी तरह छोड़ ही नहीं रहा है, कितना ही भगवान का नाम लेता हूँ, पर कोई फल नहीं होता, बल्कि उसका जोर बढ़ता ही जा रहा है। किसी भी तरह मैं स्वयं को सँभाल नहीं पा रहा हूँ, इसीलिए ओझा के पास जा रहा था। हो सकता है, वह इस भूत को मुझसे छुड़ा दे।" स्वरूप ने मछेरे को सान्त्वना देते हुए कहा, "डरने की कोई बात नहीं, मैं भी एक बड़ा ओझा हूँ, अभी तुम्हारा भूत छुड़ाए देता हूँ।" उन्होंने धीवर के सिर पर हाथ रखकर मंत्र पढ़ा और उसे तीन चपत लगाते हुए कहा, "यह लो भूत भाग गया।"

अभय पाकर उसका चित्त स्थिर हो जाने पर स्वरूप बोले, "तुम्हें जाल में जो मिले हैं, वे श्रीमद् कृष्णचैतन्य हैं, भगवद्भाव में आविष्ट होकर वे शायद समुद्र में गिर पड़े होंगे। उनके स्पर्श से तुम्हारे शरीर में हरिप्रेम का उदय हुआ है और इसे भूत का आवेश मत समझो। हम लोग उन्हीं को न पाकर ढूँढ़ने निकले हैं। चलकर हमें दिखाओ कि तुम उन्हें कहाँ छोड़ आये हो।" स्वरूप की बातें सुनकर धीवर अत्यन्त विस्मित होकर कहने लगा, "महाशय, वह शरीर तो बहुत बड़े आकार का है, उनकी देह कभी ऐसी नहीं हो सकती।" स्वरूप के आग्रह पर उसने उन लोगों को ले जाकर समुद्र के किनारे बालू पर पड़ा शरीर उन्हें दिखा दिया। अपने आराध्यदेव को इस अवस्था में पड़े देखकर भक्तगण विलाप करने लगे। स्वरूप ने स्वयं को सँभाला और बड़ी सावधानीपूर्वक धीरे धीरे उनके शरीर से लगी बालुकाराशि को झाड़ने लगे। तदुपरान्त उनकी गीली कौपीन को बदलकर उन्होंने अपनी सूखी चादर बिछाकर उसी पर महाप्रभु को लिटा दिया। संकेत पाकर संगी भक्तगण उच्च स्वर में सुमधुर हरिनाम का संकीर्तन करने लगे। भलीभाँति परीक्षा करने पर स्वरूप को ज्ञात

हो गया कि इस समय चैतन्यदेव घोर अन्तर्दशा में हैं, अत: वे ऊँची आवाज में उनके कानों के पास कृष्ण नाम सुनाने लगे । इस प्रकार कुछ काल नाम सुनाने के पश्चात उनके शरीर में बाह्यचेतना के लक्षण दृष्टिगोचर हुए और भक्तों के प्राण भी आश्वस्त हुए । थोड़ी देर बाद ही महाप्रभु निद्रोत्थित के समान उठ बैठे, परन्तु तब भी उनकी अर्धबाह्य दशा थी – मन अभी बाह्यजगत में नहीं उतरा था ।

अन्तर्दशा, बाह्यदशा और अर्धबाह्य दशा – महाप्रभु सर्वदा इन तीन में से किसी एक अवस्था में रहते थे । अन्तर्दशा (जड़-समाधि) में भगवान के साथ पूर्णत: योग हो जाने से, मन व बुद्धि उनमें विलीन हो जाते हैं और देहात्मबोध लुप्त हो जाता है । तब देह जड़ निस्पन्द वस्तु के समान हो जाती है और किसी तरह की बाह्य चेष्टा या बातचीत नहीं हो सकती । उससे थोड़ा नीचे उतरने पर शरीर में चेतना दीख पड़ती है, परन्तु उस अर्धबाह्य (भाव-समाधि) दशा में भी मन बाह्य जगत तक नहीं आता । उस समय हाव-भाव, चेष्टा, वार्तालाप आदि के द्वारा अन्तर्जगत की अद्भुत उपलब्धियाँ ही अभिव्यक्त होती हैं । इस अवस्था से और भी नीचे उतरने पर बाह्यदशा (जाग्रत) होती है, जिसमें बाह्य जगत का बोध होता है । तब इन्द्रियाँ विषयों को ग्रहण करती हैं, शरीर को अनुभव होता है ।

अर्धबाह्यदशा प्राप्त चैतन्यदेव के आधे-अधूरे वाक्य सुनकर रसज्ञ स्वरूप समझ गये कि वे व्रज के पुलिन में खड़े होकर श्रीराधाकृष्ण की प्रेमलीला तथा गोपिकाओं के साथ उनकी जलक्रीड़ा देखकर उल्लसित हैं । उस अलौकिक अतीन्द्रिय राज्य की वार्ता सुनकर तथा उस दर्शन पुलकित महाप्रभु के मनोहर मुखमण्डल देखकर भक्तों को अपार आनन्द हुआ । इसके पश्चात क्रमश: उनकी बाह्यदशा लौट आयी । स्वरूप तथा भक्तों की सेवा-शुश्रूषा से किंचित स्वस्थ होकर वे उन लोगों के साथ अपनी कुटिया में वापस लौटे ।

अपने जीवन के अन्तिम पर्व में प्राय: ही इस प्रकार देहात्मबोधहीन रहने के बावजूद, मातृभक्त संन्यासी अपनी वृद्धा माता का समाचार लेने तथा उनके पादपद्मों में अपना सश्रद्ध प्रणाम निवेदित करने के लिए, बीच-बीच में अपने प्रिय अनुगत पण्डित जगदानन्द से कहते, "नदिया पहुँचकर मेरी माता को नमस्कार करना और मेरे नाम पर उनके चरण-स्पर्श करना । तुम उन्हें स्मरण रखकर कह देना, 'मैं नित्य तुम्हारी चरण-वन्दना करने आया करता हूँ । जिस दिन तुम्हें भोजन कराने की इच्छा होती है, उस दिन अवश्य मैं उसे ग्रहण करता हूँ । तुम्हारी आज्ञा से ही मैं नीलाचल में निवास करता हूँ और जब तक जीवित रहूँगा, तब तक मैं इस स्थान को छोड़ अन्यत्र नहीं जाऊँगा' ।"

नन्दोत्सव के समय गोपीलीला की समाप्ति पर चैतन्यदेव को श्री जगन्नाथ का जो मूल्यवान प्रसादी वस्त्र मिलता था, उसे वे स्वामी परमानन्द पुरी के आदेशानुसार प्रति वर्ष अपनी माता को भेज देते थे और साथ में जगन्नाथजी के उत्तम उत्तम प्रसाद भेजना भी न भूलते थे । इसके अतिरिक्त वे स्नेहपूर्वक प्रति बार भक्तों के लिए भी महाप्रसाद माला, चन्दन आदि नियमित रूप से भेजा करते थे ।

एक बार जब जगदानन्द नवद्वीप जाकर शची देवी का दर्शन करने के पश्चात शान्तिपुर जाकर अद्वैत आचार्य से मिले, तो वृद्ध आचार्य ने उनके द्वारा चैतन्यदेव को एक सन्देश

भेजा। यह सन्देश उन्होंने एक ऐसी पहेली के रूप में बताया, जिसे महाप्रभु के अतिरिक्त और कोई समझने में समर्थ न था। उन्होंने कहा था –

प्रभुके कहिओ आमार कोटि नमस्कार।
एइ निवेदन ताँर चरणे आमार।।
बाउलके कहिओ लोके हइलो आउल।
बाउलके कहिओ हाटे ना बिकाय चाउल।।
बाउलके कहिओ काजे नाहिक आउल।
बाउलके कहिओ इहा करियाछे बाउल।।[1]

आचार्य की पहेली सुनकर जगदानन्द को हँसी आ गयी। पुरी लौटकर जब उन्होंने यह सन्देश महाप्रभु को दिया, तो वे इसे सुनकर मन्द मन्द हँसे और "तो उनकी ऐसी आज्ञा है!" – कहकर मौन रह गये।

यह सन्देश सुनकर स्वरूप को बड़ा विस्मय हुआ और उन्होंने उत्कण्टापूर्वक प्रभु से इसका अर्थ पूछा। चैतन्यदेव ने बताया, "देखो, आचार्य आगम-शास्त्र के विधि-विधानों में पारंगत एक महान पूजक हैं। पूजा के लिए पहले तो देवता का आवाहन किया जाता है, फिर कुछ काल तक पूजा हो जाने के निमित्त उन्हें रोक रखते हैं और पूजा हो जाने के उपरान्त उनका विसर्जन कर दिया जाता है। आचार्य महायोगेश्वर हैं, पहेलियाँ बनाने में समर्थ हैं, परन्तु मैं न तो पहेली का अर्थ और न ही उनके मन की बात समझ पाता हूँ।" यह सुनकर भक्तगण तो विस्मित हुए, परन्तु स्वरूप कुछ अनमने-से हो गये।

उस दिन से प्रभु का उन्माद और भी बढ़ गया, श्रीकृष्ण के प्रति उनका विरहभाव द्विगुण हो गया। श्रीकृष्ण के मथुरा चले जाने पर श्रीमती राधा के अन्तर में जैसी व्याकुलता उदित हुई थी, अब उनके अन्तर में सर्वदा उसी भाव का स्फुरण होने लगा मणि से वंचित नाग के समान अबला गोपबालाओं ने जो करुण आक्षेप किया था, उनके देह-मन में जो अति अद्भुत प्रेमविकार प्रकट हुए थे तथा भक्तिशास्त्रों में जिस विलक्षण प्रेमोन्माद अवस्था का विवरण मिलता है – वह सब अब चैतन्यदेव के जीवन में रूपायित दिखने लगा। स्वरूप एवं रामानन्द को अपनी प्रिय सखियाँ मानकर बीच बीच में वे उनके समक्ष अपने अन्तर के भाव तथा मर्मव्यथा व्यक्त किया करते थे। वे लोग भी सर्वदा महाप्रभु के साथ रहकर प्राणपण से उनकी सेवा तथा प्रेमपूर्ण वाणी, रसपूर्ण गीत-श्लोक आदि के द्वारा उन्हें सान्त्वना प्रदान करते थे। इस प्रकार दिन-पर-दिन वे स्वरूप-रामानन्द के समक्ष अपने भाव प्रकट किया करते। कृष्णप्रेम के प्रभाव से उनका अन्तर अमृतमय रहता था, पर बाहर विष

१. भावार्थ – "प्रभु से मेरा कोटि कोटि नमस्कार कहकर उनके चरणों में सूचित करना कि लोग अब सन्तुष्ट हो गये है, बाजार में अब चावल बिकता नहीं, इसलिए सुविधा नहीं हो रही है।" इस पहेली की व्याख्या इस प्रकार है – चैतन्यदेव प्रेमभक्ति रूपी चावल के बड़े व्यापारी हैं और आचार्य अद्वैत उन्हीं के मातहत चावल का विक्रय करते हैं। सन्देश का तात्पर्य यह है कि बाजार में बेचने को जो भक्ति-चावल लाया गया था, उसे क्रय करके लोगों का अभाव दूर हो चुका है, अतः अब चावल के खरीदार नही रहे। इस पर विचार करके जैसा उचित समझें कीजिए अर्थात अब हमारा इस जगत में आने का प्रयोजन पूरा हो चुका है।"

की ज्वाला दीख पड़ती थी । इस प्रेम का रसास्वादन मानो तप्त ईख को चूसना है, मुख जलता है तो भी उसे छोड़ा नही जाता । यह प्रेम जिसके अन्तर मे है, वही उसे समझता है, क्योंकि इसमे विष एवं अमृत दोनो का एकत्र समावेश है ।

उनकी देह-मन-वाणी से अभिव्यक्त, इस अपूर्व प्रेम की झलक तथा परब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्ण की अपूर्व सौन्दर्यमाधुरी का रसास्वादन पाकर, अन्तरंग भक्तगण आनन्दविभोर रहते थे । फिर भगवद्‌विरह से व्याकुल चैतन्यदेव का आर्तभाव और अनाहार-अनिद्रा से क्षीण उनकी काया देखकर दुख से भक्तों का हृदय विदीर्ण भी हो जाता । उनके इसी काल के भाव को निरुपित करते हुए 'चैतन्यचरितामृत'कार ने निम्नलिखित श्लोक रचा है –

कृष्णविच्छेद-जातार्त्या क्षीणे चापि मनस्तनु ।
दधाते फुल्लतां भावैर्यस्य तं गौरमाश्रये ।।

– ''श्रीकृष्ण के वियोगजनित पीड़ा से तन-मन क्षीण हो जाने पर भी, जिनका प्रेमभाव भक्तों को प्रफुल्लित करता है, उन्हीं गौरांग महाप्रभु की मैं शरण लेता हूँ ।''

जो लोग देहसुख में आसक्त हैं, उन्हीं के लिए दुख-कष्ट भयावह प्रतीत होता है, परन्तु जिन्हें देहात्मबोध नहीं है, देह है अथवा नहीं यह भी सदा स्मरण नहीं रहता, उनके लिए दैहिक कष्ट का भला क्या महत्व है? वह भी वेशभूषा के समान कभी व्यवहृत होता है, कभी नहीं । चैतन्यदेव के जीवन में जो भगवद्‌विरह की पीड़ा दिखाई पड़ती है, वही उनके परम आनन्द का सेतु था । दूसरों की दृष्टि में वह भले ही दुखवत प्रतीत हो, पर प्रेमी के लिए वही अनुपम प्रेम की अभिव्यक्ति है । विरह में ही प्रेम के परम माधुर्य का रस पाकर भक्तगण पुलकित हुआ करते हैं । बाहर से वह दुख के समान दीख पड़ने पर भी उस समय प्रेमी भक्त के अन्तर में भगवत्स्फुरण के फलस्वरूप अपार आनन्द का स्रोत बहता रहता है । यह विरह-व्याकुलता ही प्रेमी का साध्य है । प्रभु आनन्दमय हैं, अत: हृदय में उनके स्फुरण का अनुभव ही आनन्द का स्रोत है । विरह-व्याकुलता जितनी तीव्र होती है, भक्त की उपलब्धि भी उतनी ही गहन होती जाती है, यहाँ तक कि इसके फलस्वरूप भक्त का पृथक अस्तित्व तक विलीन हो जाता है । संसार में आसक्त जीवगण भोगजनित आनन्द में क्षण भर के लिए सुधबुध खो बैठते हैं, पर दूसरे ही क्षण उनका चंचल मन असंख्य कामनाओं के आकर्षण से देह-इन्द्रिय की ओर दौड़ पड़ता है ।

परन्तु वासनाशून्य, देहात्मबोधरहित प्रेमी भक्त का शुद्ध-मन-रूपी भ्रमर भगवान के चरणकमलों में निमग्न होकर चिरकाल तक मधुपान करता रहता है । उसमें विरह-मिलन आदि विविध भावों का संचार रस के माधुर्य में वृद्धि करता है । प्रेमी के अन्तर में दिव्य प्रेममय का निरन्तर स्फुरण होते रहने के कारण उसे कभी आनन्द का अभाव नहीं होता । संसार की किसी प्रिय वस्तु का चाहे कितना भी तीव्र आकर्षण क्यों न हो, उस कारण मनुष्य अपने शरीर को नहीं भुला सकता । धन का विनाश हो जाने पर भी कृपण में जीवनधारण की इच्छा विद्यमान रह जाती है; पति का देहावसान हो जाने पर भी सती आराम से सोयी हुई दीख पड़ती है और पुत्र खोने के बाद भी माता अन्न ग्रहण करके क्षुधा निवारण करती है । देहात्मबोध प्रबल रहने पर सामान्य जीव के लिए दैहिक सुख-दुख के परे चले जाना

सम्भव नही है । परन्तु देहात्मबोध-रहित प्रेमी भक्त के अन्तर में अपने भाव के अनुरूप सिद्ध देह का स्फुरण होता है और उसका अपने परम प्रेममय प्रियतम भगवान के अतिरिक्त किसी भी बाह्य वस्तु के प्रति बिन्दुमात्र आकर्षण भी नहीं रह जाता । हम देखते हैं कि इस काल में चैतन्यदेव की आहार, निद्रा या जीवनधारण आदि में बिल्कुल भी चेष्टा या आकांक्षा नहीं रह गयी थी । ईश्वरेच्छा से वे क्रियाएँ स्वभाववश ही चल रहीं थी और भक्तगण उन दिनों बड़ी सावधानीपूर्वक उनके शरीर की देखभाल कर रहे थे ।

एक दिन स्वरूप काफी रात गये उनके साथ भगवत्प्रेम पर चर्चा करने के बाद आकर अपने बिस्तर पर सो गये । गोविन्द कुटिया के द्वार पर ही लेटे थे । रात के अन्तिम काल में 'गों-गों' का कातर स्वर सुनकर स्वरूप की नींद खुल गयी और विस्मय में आकर उन्होंने गोविन्द को पुकारा । दीप जलाकर दोनों ने चैतन्यदेव की कुटिया में प्रवेश किया और जो दृश्य उन्हें दीख पड़ा उससे उनके हृदय में असीम व्यथा हुई । प्रभु के नाक, मुख, गाल आदि सब क्षत-विक्षत हो गये थे और उनसे रक्त बह रहा था । दोनों ने मिलकर उन्हें शय्या पर लिटाया और तदुपरान्त स्वरूप ने पूछा, "आपने कैसे यह हालत बना ली?" प्रभु ने उत्तर दिया, "उद्वेग के कारण कमरे में रह पाना मेरे लिए असम्भव हो गया था, अत: बाहर निकलने के लिए द्वार ढूँढ़ रहा था । द्वार तो मिला नहीं, पर चारों ओर की भीत से लगकर मुख पर चोट आ गयी और रक्त बहने लगा और मैं बाहर भी नहीं निकल पाया ।"

स्वरूप समझ गये कि चैतन्यदेव में दिव्योन्माद प्रकट हुआ है, देह की ओर उनका बिल्कुल भी ध्यान नहीं है । अन्य विशिष्ट भक्तों के साथ सलाह करने के बाद स्वरूप तब से उनकी देहरक्षा के प्रति और भी सावधान रहने लगे । दामोदर के अनुज शंकर चैतन्यदेव के विशेष स्नेहपात्र थे और उनकी निद्रा भी हल्की थी । यह निश्चित हुआ कि शंकर उस दिन से महाप्रभु की कुटिया के भीतर उन्हीं के निकट शयन करेंगे । समस्त भक्तों के अतिशय अनुरोध पर महाप्रभु ने भी अपनी स्वीकृति दे दी । तब से शंकर उनकी चरणसेवा करते हुए, वहीं सो जाते थे । यदि कभी शंकर को खुलेबदन ही नींद आ जाती, तो प्रभु स्वयं ही उठकर उन्हें अपना कन्था ओढ़ा देते । कुछ काल बाद शंकर उठकर बैठ जाते और उनके चरण दबाते हुए निशा-जागरण करते । उनके भय से प्रभु न तो कभी रात में बाहर निकलते और न ही दीवाल से अपना मुखाम्बुज रगड़ते ।

इसी प्रकार कृष्णप्रेम का रसास्वादन करते हुए चैतन्यदेव के दिन-रात बीतने लगे । कुछ काल बाद ही बैशाखी-पूर्णिमा की तिथि आ पहुँची । पुरी में सदा वसन्त ऋतु बनी रहने पर भी बैशाख में वहाँ मधु ऋतु का विशेष प्रस्फुटन होता है । उसी समय जगन्नाथ जी का फूलदोल चन्दनयात्रा का उत्सव भी बड़े धूमधाम से मनाया जाता है । पूर्णिमा की रात में अपनी स्वच्छ चाँदनी से धरातल को प्लावित करते हुए निशानाथ ज्योंही पूर्व गगन में उदित हुए, त्योंही प्रेमिक संन्यासी के हृदय का भावसमुद्र आन्दोलित हो उठा । उनके लिए कुटिया में रह पाना मुश्किल हो गया । भक्तों को साथ लेकर वे पुरी के प्रमुख उद्यान 'श्री जगन्नाथ-वल्लभ' में जा पहुँचे । उद्यान के प्रफुल्लित वृक्ष-लताओं में प्रवेश करते ही सबके अन्तर में वृन्दावन की स्मृति जाग उठीं । नानाविध कुसुमों के सुवासयुक्त मलय-पवन का स्पर्श एवं

कोकिल का कूजन सुनकर भक्तगण के प्राणों में सिहरन दौड़ गयी। भावाविष्ट चैतन्यदेव के आदेश पर सुगायक भक्तगण जयदेव के सुमधुर पद गाने लगे। सुनकर महाप्रभु स्थिर न रह सके और उन्होंने नृत्य आरम्भ कर दिया। गोपीभाव में विभोर संन्यासीवर भक्तों के संग नाचते-गाते व आनन्द मनाते उद्यान में विचरण कर रहे थे, तभी उन्होंने अशोक-वृक्ष के नीचे सुमधुर हास्यमण्डित प्राणप्रिय श्रीकृष्ण को देखा। दर्शन पाते ही वे उन्हें पकड़ने दौड़ पड़े। परन्तु चितचोर झलक मात्र दिखाकर ही अदृश्य हो गया। चैतन्यदेव अपने प्राणनाथ को न पाकर अचेत हो गये, उनका शरीर भूमि पर लोट गया। अन्तरंगों के प्रयास से थोड़ी देर बाद उनकी चेतना लौटी, परन्तु चारों ओर कृष्णअंग की सुगन्ध पाकर वे पुनः अचेत हो गये। तदुपरान्त वे पुनः अर्धबाह्यदशा को प्राप्त हुए और कृष्ण के अंगगन्ध का आस्वादन करते हुए उसके माधुर्य का वर्णन करने लगे। इस प्रसंग में 'चरितामृत'कार लिखते हैं, "इस प्रकार गन्ध ने जिनका मन हरण कर लिया था, वे भ्रमर के समान इधर-उधर देख रहे थे। कृष्ण मिलने की आशा में वे वृक्ष-लताओं के पास जाते, परन्तु कृष्ण के स्थान पर केवल उनकी गन्ध ही मिलती थी। स्वरूप तथा रामानन्द गाते थे और महाप्रभु नृत्य करते हुए आनन्द मनाते थे। इसी में प्रातःकाल हो गया।" इस प्रकार भक्तों के साथ कृष्णप्रेम का आस्वादन करते हुए पूर्णिमा की रात बीत ज़ाने पर, स्वरूप-रामानन्द विविध उपायों से प्रभु का मन बाह्य जगत में लौटा लाए।

रथयात्रा का काल समीप आ जाने पर गौड़ीय भक्तगण प्रति वर्ष के समान ही इस वर्ष भी दल-बल के साथ पुरी आ पहुँचे। चैतन्यदेव द्वारा निर्धारित उनकी माता के संरक्षक दामोदर पण्डित ने इस बार आकर बताया कि अतिवृद्धा शचीदेवी ने चेतनासहित गंगातट पर देहत्याग कर दिया है। स्नेहमयी जननी के तिरोभाव के समाचार ने मातृभक्त तत्वदर्शी संन्यासी के हृदय में कैसे शोकोच्छ्वास की सृष्टि की थी, यह तो हमें विदित नहीं, तथापि यह स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है कि पृथ्वी पर उनके आकर्षण का प्रमुख सूत्र अब छिन्न हो चुका था। दामोदर के मुख से उन्हें यह भी ज्ञात हुआ कि देवी विष्णुप्रिया ने प्राणपण से सास की सेवा तथा भलीभाँति अन्तिम कृत्य सम्पन्न करके पति द्वारा प्रदत्त उत्तरदायित्व का निर्वाह किया है और अब वे पहले से भी अधिक भगवद्भजन में तल्लीन रहा करती हैं। इहलोक में अब उनका मन बिल्कुल नहीं लगता, यहाँ तक कि वे शरीर के प्रति भी उदासीन हो गयी हैं। इस प्रसंग में 'अद्वैतप्रकाश' ग्रन्थ में लिखा है, "माता शचीदेवी का तिरोभाव हो जाने पर विष्णुप्रिया देवी ने स्वेच्छया भक्तों के द्वारा अपना द्वार रुद्ध करवा दिया। उनकी अनुमति पाये बिना उनका दर्शन निषिद्ध था। इसके साथ ही उन्होंने अत्यन्त कठोर व्रत धारण किया। बड़े सबेरे ही वे स्नान-आह्निक आदि से निपटकर, थोड़े से चावल लेकर हरिनाम का जप करने बैठ जातीं। प्रत्येक नाम के साथ चावल का एक दाना मिट्टी के पात्र में रखते हुए वे तीसरे प्रहर तक जप करतीं। तदुपरान्त वे चावल के उन दानों को वस्त्र में बाँधकर यत्नपूर्वक पका लेतीं। फिर वे नमक या किसी अन्य व्यंजन से रहित उस अन्न का बड़े विनयपूर्वक महाप्रभु को भोग लगातीं। तरह तरह से विलाप करने के बाद आचमन करके वे उसमें से मात्र एक मुट्ठी प्रसाद स्वयं ग्रहण करतीं और बाकी भक्तों के बीच वितरण

कर देती थीं । दूसरा कौन ऐसा कठोर व्रत अपना सकता है !''

मन को यथासाध्य नीचे उतारकर बाह्यदशा में रहते हुए चैतन्यदेव ने पहले के समान ही इस बार भी गौड़ीय भक्तों के साथ रथयात्रा-महोत्सव का आनन्द मनाया । उनकी सहज अवस्था देखकर भक्तगण बड़े प्रसन्न थे । बाहर से सहज लोकव्यवहार का पालन करते हुए भी, उनके अन्तर की अवस्था पूर्ववत ही प्रबल बनी रही और गौड़ीय भक्तों के लौट जाने के बाद से वह प्रबलतर रूप में अभिव्यक्त होने लगी । उद्धव को देखकर राधिका की जैसी दशा हुई, अब रात-दिन महाप्रभु की भी वैसी ही दशा रहने लगी । निरन्तर विरह-उन्माद की अवस्था में वे सदा प्रलाप करते हुए बातें करते । उनके रोमविवरों से रक्त प्रवाहित होता, दाँत सब ढीले हो गये थे; क्षण भर उनका शरीर क्षीण हो जाता था और क्षण भर में ही फूल जाता । इसी प्रकार उनके शरीर में अद्‌भुत भाव प्रकट होते थे, मन में शून्यता बनी रहती थी और वे रुदन करते हुए कहते, ''मैं क्या करूँ? व्रजेन्द्रनन्दन को कहाँ पाऊँ? कहाँ हैं मेरे प्राणनाथ, मेरे मुरलीधर? मैं अपना दुख किससे कहूँ, कौन समझेगा उसे? व्रजेन्द्रनन्दन के अभाव में मेरी छाती फटी जाती है !''

इस अद्‌भुत प्रेम के उद्दाम वेग के फलस्वरूप अब उनके लिए नरकाया धारण रख पाना असम्भव-सा हो उठा था । रामानन्द, स्वरूप, गोविन्द आदि सेवकगण प्राणपण से प्रयत्न करके भी अब उसकी रक्षा कर पाने में असमर्थ थे । कुछ काल बाद अड़तालीस वर्ष की आयु में (१५३३ ई.) चैतन्यदेव मानवी-लीला का संवरण कर चिरकाल के लिए अपने प्रियतम व्रजविहारी के साथ मिलित हुए ।

किसी किसी के मतानुसार रथयात्रा में कीर्तन के समय भावावेश में गिर जाने के कारण उनके शरीर पर काफी चोट आ गयी थी, अत: उन्हें गुण्डिचा-भवन के समीप रखा गया । बाद में उन्होंने उसी अवस्था में देहत्याग किया और गुण्डिचा-भवन में ही उनकी पूत काया को समाहित कर दिया गया । एक अन्य मतानुसार वे भावावस्था में जगन्नाथजी का आलिंगन कर उन्हीं में विलीन हो गये । फिर कुछ और लोगों का कहना है कि उन्होंने भावावेश में अपने परमप्रिय गदाधर पण्डित की कुटिया में देहत्याग किया और वहीं गोपीनाथ विग्रह के समीप उनके पवित्र शरीर को समाहित किया गया । इस विषय में 'भक्तिरत्नाकर' नामक प्रामाणिक ग्रन्थ में लिखा है कि चैतन्यदेव का तिरोभाव होने के अल्पकाल पूर्व आचार्य नरोत्तम नें, महाप्रभु का दर्शन करने की आशा में पुरी की ओर प्रस्थान किया । परन्तु उनके पहुँचने के पूर्व ही वे महाप्रस्थान कर चुके थे । निराश तथा शोकाकुल नरोत्तम जब गदाधर की कुटिया में पहुँचे, तो पण्डित के सेवक ने अश्रुपूर्ण नेत्रों से चैतन्यदेव का समाधिस्थान दिखाते हुए उनसे कहा, ''हे नरोत्तम, यहीं पर गौरांगदेव ने पण्डितजी से धीरे धीरे न जाने क्या कहा । दोनों के ही नेत्रों से अविरल अश्रु बह रहे थे, जिन्हें देखकर पाषाण भी पानी पानी हो जाता । संन्यासी-शिरोमणि के कार्य भला कौन समझ सकता है ! सहसा पृथ्वी पर अन्धकार फैलाते हुए वे गोपीनाथ मन्दिर में प्रविष्ट हुए, वहीं उनका अदर्शन हो गया और वे पुन: बाहर नहीं निकले ।''

(क्रमश:)

माँ के सान्निध्य में (४२)

सरयूबाला देवी

(मूल बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर कथा' के प्रथम भाग से इस अंश का अनुवाद किया है स्वामी निखिलात्मानन्द ने, जो सम्प्रति रामकृष्ण मठ, इलाहाबाद के अध्यक्ष हैं। – सं.)

२२ अगस्त १९१८

आज संध्या के बाद गयी थी। माँ अपने तख्त के पास फर्श पर एक चटाई पर लेटी हुई थीं। प्रणाम करने के बाद बातचीत के दौरान मैंने पूछा, "माँ, यहाँ आये हुए बहुत दिन हो गये, अब क्या मेरा कालीघाट वाले मकान में चले जाना उचित होगा?"

माँ – कुछ दिन और यहीं रहो न, वहाँ जाने से फिर यहाँ तो इस प्रकार नहीं आ सकोगी। तुम्हारे एक दिन न आने पर सोचती हूँ कि आयी क्यों नहीं! कल तुम नहीं आयी, सोचा कहीं तुम्हारी तबियत तो नहीं खराब हो गयी । आज भी यदि नहीं आती तो मैं रसोइये को भेजकर पता लगाती। परन्तु यदि तुम्हारे पति को कोई अस्वस्थता आदि हो और लगे कि वे चाहते हैं कि तुम अभी चली जाओ, तब तो अवश्य जाना होगा।

मैं – माँ, वे सन्तुष्ट रहें, तो भी लोग कहेंगे कि अपना घर-संसार छोड़कर इतने दिनों से बहन के घर में है। पति की सेवा, गृहस्थी आदि भी तो कर्तव्य है।

माँ – बहुत दिनों तक तो गृहस्थी हुई। लोगों की बात छोड़ दो, वे लोग ऐसे ही कहा करते हैं।

मैं – गृहस्थी के लिए कभी खूब चिन्ता हुई हो, ऐसा तो स्मरण नहीं आता, माँ! आपके पास इस प्रकार नहीं आ सकूँगी, हमेशा यही चिन्ता बनी रहती है।

माँ – तो फिर क्या है? इस महीने रह जाओ।

एक ब्रह्मचारी आकर सूचना दे गये कि एक महिला माँ से मिलने आयी हैं। अत्यन्त थक जाने के कारण ही माँ लेटी हुई थीं। यह समाचार पाने के बाद 'फिर एक को ला रहा है। आह ! मैं तो मर गयी' कहकर वे नाराजगी व्यक्त करती हुई उठ बैठीं। थोड़ी देर बाद सुन्दर वस्त्राभूषण पहने एक महिला आकर माँ की शय्या के पास बैठीं और उनके श्री चरणों में सिर टेककर प्रणाम किया। इस पर माँ ने कहा, "वहीं से करो न बेटी, पाँव में क्यों?" इसके बाद उन्होंने कुशल-मंगल पूछा।

वे बोली, "आप तो जानती ही हैं, माँ। वे बीमार हैं।"

माँ – हाँ सुना है। अब कैसे हैं? क्या बीमारी है, कौन देख रहे हैं?

वे – मधुमेह है, डॉक्टर देख रहे हैं। पेट में पानी हो गया है, पाँव फूल गये हैं, डॉक्टर कहते है कि बड़ी खराब बीमारी है, परन्तु डॉक्टरों की बात मैं नहीं मानती। माँ, आपको इसका उपाय करना ही होगा। आप कहिए कि वे ठीक हो जायेंगे।

माँ – मैं क्या जानूँ बेटी, ठाकुर ही सब हैं। ठाकुर यदि ठीक करें, तभी होगा।

वे – इसी से हो जायेगा । आपकी बात क्या ठाकुर टाल सकते हैं ।

यह कहकर वे पुन: श्री चरणों में सिर रखकर रोने लगीं ।

माँ ने उन्हें अभय देते हुए कहा, "ठाकुर से प्रार्थना करो कि वे तुम्हारे पति की जीवन-रक्षा करें । इस समय वे क्या खाते-पीते हैं ।"

वे – पूरियाँ आदि खाते हैं ।

इसी तरह की दो-चार बातों के बाद उन्होंने माँ के चरणों में प्रणाम करने के बाद विदा ली और नीचे शरत महाराज से मिलने चली गयीं ।

"सब लोगों के दु:ख-कष्टों से मेरा शरीर जल गया, बेटी !" – इतना कहकर माँ फिर लेट गयीं । मैं तेल मालिश करने की तैयारी कर रही थी, तभी उन महिला के साथ आयी हुई उनकी कोई सगी भी माँ को प्रणाम करने आयीं । माँ को पुन: उठना पड़ा । उनके जाने के बाद माँ फिर लेट कर बोलीं, "अब चाहे जो भी आ जाय, मैं उठनेवाली नहीं हूँ । देखती हो न, बेटी ! पाँव के दर्द से बारम्बार उठने में कष्ट होता है । फिर घमौरी के कारण पूरे पीठ में जलन हो रही है । तेल को अच्छी तरह घिस-घिसकर लगा तो !"

तेल मालिश करते समय उन्हीं महिला का प्रसंग उठने पर माँ ने कहा, "इतना बड़ा संकट है, ठाकुर के पास आयी है । कहाँ तो वह सिर टेककर मनौती मानेगी, सो तो नहीं; देखा न, कैसा सब सुगन्ध आदि लगाकर आयी है? क्या कहीं इस प्रकार ठाकुर-देवता के स्थान में जाना चाहिए? आजकल का सब ऐसा ही है ।"

थोड़ी देर बाद बहू ने आकर मुझसे कहा, "लक्ष्मण (नौकर) आकर तुम्हें लिवा जाने के लिए बैठा हुआ है ।" माँ ने आहट पाकर बहू को प्रसाद देने के लिए कहा और मुझसे बोलीं, "मैंने सिर उठा रखा है, प्रणाम कर ले ।" मैंने प्रणाम करके प्रस्थान किया ।

२३ अगस्त १९१८

आज संध्या के समय जाकर ठाकुर को प्रणाम करने के बाद माँ को प्रणाम करते ही उन्हें कहते सुना, "बहू के ऊपर उसका (एक महिला-भक्त) बड़ा कठोर शासन है । इतनी अधिक कठोरता क्या उचित है? स्वयं पीछे रहकर थोड़ी स्वाधीनता देनी चाहिए । अहा ! छोटी-सी बिटिया है, उसकी क्या थोड़ी खाने-पहनने की इच्छा नहीं होगी? और जैसा कहती है, मान लो वह आत्महत्या कर ले या कहीं निकल जाय, तो क्या होगा?".

फिर वे मेरी ओर देखकर कहने लगीं, "पाँव में थोड़ा-सा रंग लगा लिया, तो क्या हो गया । अहा! ये बेचारी बच्चियाँ अपने पतियों को ही नहीं देख पातीं, इसके पति ने तो संन्यास ले लिया है । मैंने तो आँखों से देखा है, सेवा-टहल की है, पकाकर खिला सकी हूँ, बुलाने पर निकट भी जा सकी हूँ, जब नहीं बुलाया, तो दो महीने नौबतखाने से नीचे तक नहीं उतरी । दूर से देखकर प्रणाम कर लिया करती थी । वे कहते, "अरे, उसका नाम सारदा है, वह सरस्वती है । इसीलिए उसे सजना पसन्द है ।"[१] हृदय से उन्होंने कहा था,

---

१. ठाकुर ने गोलाप-माँ से भी कहा था, "वह सारदा है, सरस्वती है – ज्ञान देने आयी है। रूप रहने से कहीं अशुद्ध मन से देखकर लोगों का अकल्याण न हो, इसीलिए इस बार रूप ढँककर आयी है।

"देख तो, तेरे सन्दूक में कितने रुपये हैं? उसके लिए दो अच्छे कंगन गढ़वा दे ।" उस समय वे बीमार थे, तो भी उन्होंने तीन सौ रुपये लगाकर मेरे लिए कंगन बनवाये – वे स्वयं रुपये-पैसे का स्पर्श नहीं कर पाते थे ।

"ठाकुर के लीला-संवरण के बाद जब मेरे कलकत्ते में आकर रहने की बात हुई, उस समय मैं कामारपुकुर में थी । वहाँ के कई लोग कहने लगे, 'हे भगवान, यह छोटी-सी बच्ची जाकर क्या उन लोगों के बीच रहेगी !' मैं तो मन-ही-मन सोचती थी कि यहीं रहूँगी । इस पर समाज का क्या मत है यह जानने के लिए मैंने कई लोगों से पूछा । किसी किसी ने कहा था, 'क्यों नहीं जाओगी ! वे लोग शिष्य जो हैं ।' मैंने सब सुना । फिर हमारे गाँव में एक वृद्ध विधवा महिला (लाहा परिवार की प्रसन्नमयी) हैं । उनके अत्यन्त धार्मिक तथा बुद्धिमती होने के कारण सभी उन्हें मानते थे । मैंने उनके पास जाकर पूछा, 'आप क्या कहती हैं?' उन्होंने कहा, 'यह क्या जी? तुम अवश्य जाओगी । वे लोग शिष्य हैं, तुम्हारी सन्तानों के समान हैं । यह भी कोई बात है! जरूर जाओगी ।' इसे सुनकर कई लोगों ने जाने की सलाह दी । तब कहीं मैं यहाँ आयी । अहा! वे लोग मेरे कारण – गुरुभक्ति के कारण जयरामबाटी की बिल्लियों तक की देखभाल करते हैं ।

"मेरी माँ दुःख करते हुए कहा करती थी, 'ऐसे पागल जमाई के साथ मैंने अपनी सारदा को ब्याहा कि अहा! उसने घर-गृहस्थी ही नहीं बसाई, बाल-बच्चे भी नहीं हुए, माँ का सम्बोधन भी नहीं सुना!' यही सुनकर एक दिन ठाकुर ने कहा, 'सास-माँ, इसके लिए आप खेद न करें । आपकी पुत्री के इतने बाल-बच्चे होंगे कि वह माँ के सम्बोधन से परेशान हो उठेगी ।' सो वे जो कह गये हैं, ठीक वैसा ही हुआ है, बेटी ।"

थोड़ी बाद रात हो जाने से मैंने प्रणाम करके विदा ली ।

* * *

आज अपराह्न में मूसलाधार वर्षा हो रही थी । माँ के पास जाने का समय हो गया, परन्तु कैसे जाऊँ ! संध्या का अन्धकार घनीभूत होता जा रहा था । शोकहरण की सलाह पर मैं उन्हीं की बरसाती लपेटकर चल पड़ी । वर्षा के झोंके नाक-मुख पर लगकर तंग करने लगे । तो भी कितने आनन्द, कितने आकर्षण के साथ मैं चली जा रही थी, इसे कहकर नहीं बताया जा सकता! मैं पिछले दरवाजे से होकर गयी थी । सामने के द्वार से जाने पर स्वामीजी लोग देखकर क्या सोचेंगे – इस बात से मुझे लज्जा आ रही थी । माँ के पास जाते ही मेरा वेश देखकर उनकी हँसी फूट पड़ी । परन्तु प्रणाम करते समय मेरे (सिर का) गीला वस्त्र उनके पाँवों से लगने पर वे चिन्तित होकर बोलीं, "अरे, तू तो भीग गयी है । जल्दी से कपड़े बदल डाल, राधू के कपड़े पहन ले ।"

मैं बोली, "शरीर पर हाथ लगाकर देख लो माँ, और कहीं भी नहीं भीगी हूँ, कपड़े बदलने की आवश्यकता नहीं ।"

माँ ने देखकर कहा, "हाँ, ठीक ही तो है ।"

माँ ने एक फलालैन का कपड़ा मँगाया था, मैं उसे भी ले गयी थी । पट्टी बाँधने में सुविधा के लिए मैंने उसके दोनों ओर नये कपड़े का फीता जैसा लगा दिया था । माँ उसे

देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुई । बात बात में जयरामबाटी का प्रसंग उठा ।

माँ – एक बार वहाँ क्या ही अकाल पड़ा था ![२] कितने ही लोग भोजन के अभाव में हमारे घर आते! हमारा पिछले वर्ष का धान कोठार में रखा हुआ था । पिताजी उस धान से चावल बनवाकर और उसमें उड़द की दाल मिलाकर हण्डियों में खिचड़ी पकवाते थे । कहते, 'घर के लोग इसी में से खायेंगे, अन्य किसी के आने पर भी इसी में से देना । केवल मेरी सारदा के लिए थोडा-सा अच्छे चावल का भात पकाना ।' कभी कभी तो इतने लोग आ पहुँचते कि खिचड़ी पूरी नहीं पड़ती । तत्काल ही फिर हण्डी चढ़ा दी जाती । वह गरमागरम खिचड़ी ज्योंही पत्तलों पर ढाली जाती, मैं उसे जल्दी से ठण्डा करने के लिए दोनों हाथों से पंखा झलने लगती । अहा! भूख से व्याकुल सभी खाने के लिए बैठे रहते । एक दिन एक लड़की आयी, तेल के अभाव में उसके सिर के बाल जकड़ गये थे । आँखें उन्मत्त जैसी थीं । नाद में गायों के लिए जो चावल की कनी भीग रही थी, आते ही उसने उसी को खाना शुरू कर दिया । हम कहते ही रह गये कि घर के भीतर खिचड़ी है, देते हैं, पर उसे इतना धैर्य कहाँ! भूख की ज्वाला कोई कम होती है! शरीर धारण करने से ही भूख-प्यास सब है । इस बार घर में बीमारी के समय एक दिन आधी रात को मुझे उसी तरह की भूख लगी । सरला आदि सब सो रही थीं । अहा! वे लोग इतना परिश्रम करने के बाद सोने गयी हैं, फिर उन्हें कैसे जगाती? लेटी लेटी स्वयं ही टटोलने लगी । देखा कि एक कटोरी में थोड़े-से मुरमुरे रखे हुए हैं । और तकिये के पास दो बिस्कुट भी मिले । इस पर बड़ी खुशी हुई । उसी को खाकर मैंने सामने रखे हुए घड़े से पानी पीया । भूख की ज्वाला में यह बोध नहीं रहा कि मुरमुरे खा रही हूँ ।

इतना कहकर वे हँसने लगीं ।

इसके बाद माँ ने कहा, "उसी समय राँची से एक भक्त बड़े बड़े पपीते लाया था । पपीते मुझे बड़े पसन्द हैं, बेटी । मैं टकटकी लगाये देख रही थी – अहा ! यही पपीता यदि मुझे ये लोग दें, तो खाऊँ । परन्तु वे लोग भला कहाँ देनेवाले थे? उस समय मुझे बड़ा बुखार जो था । कोयलपाड़ा में क्या ही बीमार हुई थी, बेटी! बेहोश थी, तब पाखाना-पेशाब सब बिस्तर पर ही होता था । उस समय सरला और बहू ने मेरी बड़ी सेवा की । (रुँआसी होकर) इसीलिए सोचती हूँ, बेटी, फिर तो उसी प्रकार भोगना होगा । उस बार तो कांजीलाल की दवा से ठीक हो गयी । अहा! बेटी, हाथ-पाँव में क्या ही जलन थी! कांजीलाल के ठण्डे मोटे पेट पर हाथ दिये रहती थी । शरत भी उस बार गया था ।"

थोड़ी देर बाद मैंने पूछा, "अच्छा माँ, जयरामबाटी से पत्र लिखकर क्यों आपने उन भक्त-महिला के साथ मेलजोल करने से मना किया था?"

माँ – उसका भाव अलग है । वह इस (ठाकुर के) भाव की नहीं है ।

सुनकर मैं विस्मित रह गयी । इस बीमारी के इतने झंझटों के बीच दूर रहकर भी उन्हें यही चिन्ता कि हमारा कैसे मंगल हो!

उसके अगले दिन मैं देखकर अच्छे अच्छे पपीते तथा आम ले गयी थी । माँ कितनी

२. यह १८६४ ई. की बात है और माँ की आयु तब ११ वर्ष थी ।

प्रसन्न हुई और हमें भी हर्षित करने के लिए क्या ही आनन्द व्यक्त करने लगी !

माँ ने कहा, "अरे, कल जिस पपीते की बात निकली, ये तो ठीक वैसे ही हैं, आम भी अच्छे हैं ।" फिर – यह आम शरत को, यह गणेन को, यह जमाई को – कहते हुए उन्होंने उसके भाग कर दिये । बड़ी गरमी पड़ रही थी, माँ को खूब घमौरियाँ निकली थीं ।

माँ ने कहा, "चन्दन लगाने से कम हो सकती हैं, परन्तु उससे ठण्ड लगती है ।"

मैं – कल पाउडर ले आऊँ? उसे लगाने से घमौरियाँ कम होंगी ।

माँ – ले आना बेटी, तुम लोगों का पाउडर ही लगाकर देखूँ । एक घड़ा पानी लाने को कहो तो, एक बार बाहर जाऊँगी ।

बहू ने कहा, "पानी रख दिया है ।"

माँ रास्ते के किनारे बरामदे में जाकर हँसते हँसते पुकार रही हैं, "बेटी, बेटी, जरा इधर आओ, जल्दी आओ ।" मेरे जाते ही उन्होंने कहा, "देखो, देखो, उस गणिका के घर के सामने की खिड़की के किनारे एक आदमी है, वह एक बार इस ओर से और फिर दूसरी ओर से भीतर जाने का प्रयास कर रहा है, परन्तु घुस नहीं पा रहा है । देखो, कितना मोह है, कैसी प्रवृत्ति है ! भीतर से गाने की आवाज आ रही है, और इधर वह घुस नहीं पा रहा है । अहा! छटपटाकर मर रहा है ।" माँ ऐसी भंगिमा के साथ वे बातें कह रही हैं कि मैं भी अपनी हँसी दबाकर नहीं रख सकी । तब माँ भी हँस रही थीं और उनके साथ मैं भी हँस रही थी । हँसते हँसते हम दोनों घर के भीतर आ गयीं ।

मैं – अहा ! भगवान के लिए यदि वैसी ही छटपटाहट हो, तभी तो हुआ, माँ !

एक महिला की बात उठी । माँ बोलीं, "अपने पति से उसे कितना मोह हुआ है, बेटी! खाते-सोते भी शान्त नहीं रह पाती, उठकर देख आती है । दिन-रात घर में बन्दी बनाकर बैठी है । उसके कारण वह बाहर तक नहीं निकल पाता । छी! छी!! और शरीर क्या होता जा रहा है, देख! एक बच्चा-वच्चा होने से शायद उसका यह भाव कम हो ।"

बहू ने आकर कहा, "तुम्हें लेने आया है, जी ।" रात भी काफी हो गयी थी, मैंने प्रणाम करके विदा ली ।

अगले दिन जब मैं गयी, तो माँ रास्ते की ओर के बरामदे में बैठी जप कर रही थीं । कमरे में उन्हें न पाकर मैं बरामदे में गयी । माँ ने कहा, "आ गयी! बैठ ।" जप समाप्त हुआ । माला की थैली को उन्होंने अपने सिर से छुलाकर रख दिया । माँ के मकान के सामने उन दिनों खुली जगह थी । उसके पश्चिमी किनारे पर खपड़ैल के घरों में अनेक निर्धन लोग किराये पर रहते थे । अब उन्हीं के प्रसंग में वे कहने लगीं, "यह देख, दिन भर खटने के बाद अब लौटकर ये लोग निश्चिन्त बैठे हैं – दीन-दुःखी ही धन्य हैं!" बाइबिल की वह बात याद आ गयी – ईसा मसीह के मुख से एक दिन यही बात निकली थी । आज माँ के मुख से भी वही बात सुनने में आयी । थोड़ी देर बाद माँ ने कहा, "चल, कमरे में चलें ।" बहू ने नीचे बिस्तर लगा रखा था, आकर लेट गयीं । मैंने सुबह ही लक्ष्मण के हाथों पाउडर भेज दिया था । माँ ने कहा, "तेरा दिया पाउडर लगाया था, तभी तो देख, घमौरियाँ यहाँ कम हो गयी हैं, यहाँ पर बहुत हैं, लगा तो । खुजलाहट भी घट गयी है ।

शरत को भी बड़ी घमौरियाँ हुई हैं । अहा! उसे भी यदि कोई लगा देता!''

मैंने कहा, ''ओ बाबा, उनसे यह बात भला कौन कहने जायेगा, माँ! यह चीज तो शौकीन लोग ही उपयोग में लाया करते हैं ।'' सुनकर माँ हँसने लगीं ।

माँ के घुटनों का वात काफी बढ़ गया है । कल एक भक्त के दो लड़कों ने बिजली की बैटरी लगायी थी, उससे थोड़ा आराम है । आज भी लड़के आये हैं । छोटी मामी कह रही हैं, ''मेरा भी वात कल से बढ़ गया है, मैं भी मशीन लगाऊँगी!'' सुनकर माँ हँसने लगीं, बोलीं, ''लगा तो बेटा, उसे भी ।'' लड़कों ने जल्दी जल्दी अपने यंत्र आदि ठीक करके ज्योंही मामी के पाँव से उसे एक बार लगाया कि वे चिल्ला उठीं, ''अरे, मर गयी रे, पूरा शरीर झनझना रहा है । हटा, हटा!'' सुनकर सभी हँसने लगे । वे तो सर्वसहा जननी नहीं हैं । छोटी मामी माँ से बोलीं, ''तुमने तो बताया नहीं कि ऐसा होगा?''

माँ – ठीक हो जायेगा, चिल्ला मत, थोड़ा सहन कर ।

इसके बाद मामी ने कहा, ''सचमुच ही तो, लगता है थोड़ा कम हो रहा है ।''

विलास महाराज आरती करने चले गये । बहू कह रही है, ''अच्छा, इसके नाम में तो कोई 'आनन्द' नहीं है?''

माँ हँसते हुए बोलीं, ''है क्यों नहीं जी, इसका नाम विश्वेश्वरानन्द है ।'' इसके बाद वे कहने लगीं, ''एक का पुकारने का नाम कपिल था । अच्छा, तो उसके साथ भी क्या आनन्द है? कपिलानन्द है क्या?'' (तभी सरला दीदी ने कमरे में प्रवेश किया ।)

माँ – अच्छा, कपिल का क्या अर्थ है?

सरला दीदी ने कहा, ''पता नहीं, लगता है बन्दर होगा ।''

मैं – यह क्या सरला दीदी! कपिल का नहीं, बल्कि कपि का अर्थ बन्दर होता है ।

इस पर सभी हँसने लगे ।

माँ – फिर एक का नाम भूमानन्द है । अच्छा, इसका क्या अर्थ है?

मैं – सो तो आप ही अच्छी तरह जानती होंगी, माँ ।

माँ – नहीं, नहीं, तुम्हीं लोग बोलो, थोड़ा सुनूँ ।

मैं – माँ, मैंने सुना है कि भूमा से तात्पर्य उसी अनन्त सर्वव्यापी पुरुष से है ।

सुनकर माँ प्रसन्न हुईं और मुँह दबाकर हँसने लगीं । सचमुच ही माँ कभी कभी ऐसा दिखाती हैं, मानो एक छोटी-सी बच्ची हों – कुछ भी नहीं जानतीं । फिर अन्य समय देखा है कि जटिल आध्यात्मिक तत्त्वों की कैसी व्याख्या करती जा रही हैं! जहाँ मनुष्य की किताबी विद्या पूरी नहीं पड़ती, वहाँ उनका एक अलग भाव रहता है, मानो सब समझ रही हों । माँ ने कहा, ''और कपिल का अर्थ क्या हुआ?'' माँ इसे सुनना ही चाहती हैं ।

मैं – क्या जानूँ, माँ । कपिल नाम के तो सांख्य-दर्शन के प्रणेता एक मुनि थे, फिर कपिल रंग भी है । उन लोगों ने किस अर्थ से नाम रखा है, मैं क्या जानूँ ! इस शब्द के हो सकता है और भी अर्थ हों, पर मुझे याद नहीं आ रहे हैं । कल मैं शब्दकोश देखकर आऊँगी । ❐ **(क्रमशः)** ❐

स्वामी विवेकानन्द के साथ भ्रमण (१)

भगिनी निवेदिता

(कुमारी मार्गरेट नोबल ने लंदन में स्वामीजी के व्याख्यान सुने और उनके विचारों से प्रभावित होकर भारत आयीं । उन्होंने अपनी एक छोटी-सी अंग्रेजी पुस्तिका में बताया है कि स्वामीजी ने किस प्रकार पहले बेलूड़ मठ में और तदुपरान्त हिमालय भ्रमण के दौरान उन्हें प्रशिक्षण देते हुए भारतमाता की सेवा में निवेदित किया, प्रस्तुत है इसी भावभीने विवरण का हिन्दी अनुवाद – सं.)

पूर्वाभास

व्यक्तिगण – स्वामी विवेकानन्द, उनके गुरुभ्रातागण तथा शिष्यमण्डली । कुछ पाश्चात्य अतिथि तथा शिष्याएँ, जिनमें हैं धीरामाता, जया और निवेदिता ।

स्थान - भारत के विभिन्न स्थान　　　　समय - १८९८ ई०

इस वर्ष के दिन कितने सुन्दर गये हैं ! इस दौरान आदर्श यथार्थ में परिणत हुए । पहले तो बेलुड़ के गंगातट पर स्थित हमारी कुटिया में; फिर हिमालय के नैनीताल व अल्मोड़ा में और उसके बाद काश्मीर में इधर-उधर भ्रमण करते हुए – सर्वत्र ही ऐसे अवसर आये जो कभी भुलाये नहीं जा सकते, ऐसी वाणी सुनने को मिली जो सदा-सर्वदा हमारे जीवन में प्रतिध्वनित होती रहेगी और कम-से-कम एक बार एक दिव्य दर्शन की झलक भी मिली । यह सब कुछ मानो एक खेल था ।

हमने एक ऐसा प्रेम देखा जो छोटे-से-छोटे तथा महा अज्ञानी के साथ भी मिलकर एक हो जाता है । और उनकी दृष्टि से तब जगत को देखकर उसमें कुछ भी निन्दनीय नहीं पाया; एक विराट प्रतिभा की विशाल मौजों पर हमने हँसी-ठिठोली की है, वीरता की उष्णता से हम गर्म हो उठे हैं; और भगवान के शिशु रूप में आगमन पर मानो हम उपस्थित रहे हैं । परन्तु इन सबके दौरान किसी बड़ी गम्भीरता या कठोरता का आलम न था । पीड़ा हम सबके पास आयी, शोक के अवसर आये और चले गये । परन्तु वे दुख भी स्वर्णिम ज्योति में परिवर्तित होकर दमकते रहे, उनमें दाहकता न थी ।

क्षमता होती तो मैं उन यात्राओं का वर्णन करती । आज भी जब मैं लिखने बैठी हूँ, तो बारामुला के प्रस्फुटित आइरिस-पुष्पों, इस्लामाबाद के पोपलर (पहाड़ी पीपल) वृक्षों के नीचे धान के नये पौधों, हिमालय के नक्षत्रालोकित दृश्यों और दिल्ली तथा ताज की राजकीय सुन्दरता को अपने नेत्रों के सामने स्पष्ट देख पा रही हूँ । इन यादगारों को लिख रखने की साध होती है । परन्तु यह प्रयास व्यर्थ से भी व्यर्थतर होगा । तथापि वे शब्दों में नहीं, बल्कि स्मृति के प्रकाश में चिरकाल तक सुरक्षित रहेंगी और उनके साथ ही वे कोमल तथा मधुर-स्वभाव लोग भी रह जायेंगे, जिन्होंने हमारे इस जीवन के आनन्द में और भी वृद्धि की है ।

जिस प्रकार की मन:स्थिति में नवीन धर्ममतों का जन्म होता है और जो लोग इनके अनुप्रेरक बनते हैं – इस विषय में भी कुछ कुछ सीखने को मिला । क्योंकि हम लोगों को

एक ऐसे व्यक्ति का संग मिला, जो सभी लोगों को अपनी ओर खींच लेते थे, सबकी सुनते थे, सबसे संवेदना रखते थे और किसी को भी अस्वीकार नहीं करते थे । हमें देखने को मिली है एक ऐसी विनम्रता, जो समस्त ओछेपन को दूर कर सकती थी; ऐसा त्याग, जो अन्याय के प्रति प्रचण्ड धिक्कार तथा पीड़ित के प्रति करुणा से अभिभूत हो जाती थी; ऐसा प्रेम, जो उत्पीड़न तथा मृत्यु के चरणों में भी आशीर्वाद की वर्षा कर सकती थी । हम लोग उस महिला (मेरी मेगडेलन) के साथ जुड़े हैं, जिसने अपने आँसुओं से प्रभु के चरण पखारकर अपने सिर के केशों से उन्हें पोंछा है । हमें ऐसे अवसरों का नहीं, अपितु उनकी भावविह्वल आत्मविस्मृति का अभाव रहा है ।

दिवंगत सम्राटों के उद्यान में एक वृक्ष के नीचे बैठकर हमें एक ऐसी अनुभूति हुई है, मानो जगत की सारी उत्तम तथा उत्कृष्ट चीजें महान आत्मा के देवालय में आकर स्वयं को निवेदित कर रही हों । गिरजाघरों की अलंकृत खिड़कियाँ, महाराजाओं के रत्नखचित सिंहासन, महानायकों की विजय-पताकाएँ, पुरोहितों की वेशभूषा, नगरों की साज-सज्जा और दम्भियों के सैरगाह – सभी हमारे दृष्टिपटल पर आये और परित्यक्त हो गये ।

हमने उन्हें भिक्षुक की वेशभूषा में भी देखा, जिसमें वे विदेशियों द्वारा तिरस्कृत तथा स्वदेशियों द्वारा पूजित हुए थे; और इसीलिए श्रम-अर्जित रोटी, कुटीरों का आश्रय तथा खेतों के बीच से होकर जानेवाला आम रास्ता ही इस जीवन की पृष्ठभूमि के रूप में ठीक ठीक शोभायमान होता है । स्वदेशवासियों में विद्वानों तथा राष्ट्रप्रेमियों के समान ही निरक्षर जनता भी उनसे प्रेम करती थी । उनके नाव के मल्लाह उनकी अनुपस्थिति में उनके आने की राह देखते रहते थे और घर के सेवक उनकी सेवा करने को अतिथियों के साथ उलझ पड़ते थे । और यह सब कुछ सर्वदा मानो एक खेल के आवरण से ढँका रहता था । "वे लोग भगवान के साथ खेल रहे थे" और सहजवृत्ति से वे इस बात को जानते भी थे ।

जिन लोगों ने ऐसे क्षण देखे हैं, उनका जीवन और भी समृद्ध तथा मधुर हो उठा है और लम्बी रातों के दौरान उन्हें लगता है कि मानो हवा भी ताड़ के वृक्षों से होकर पुकार रही है – 'महादेव ! महादेव ! महादेव !'

(१) गंगातट का आवास

गंगातट के इस मकान के बारे में स्वामीजी ने मुझसे कहा था, "धीरामाता का यह छोटा-सा घर तुम्हे स्वर्ग-सा प्रतीत होगा, क्योंकि इसमें प्रारम्भ से अन्त तक केवल प्रेम-ही-प्रेम है ।" और वास्तविकता भी ऐसी ही थी । भीतर एक अविच्छिन्न सामंजस्य का भाव तथा बाहर हर चीज समान रूप से सुन्दर – दूर तक फैली घास की हरियाली, लम्बे लम्बे नारियल के वृक्ष, झुरमुटों के बीच से दिखायी देते छोटे छोटे बादामी रंग के गाँव और हमारे लिए भगवान शिव का आशीष लाने के निमित्त पास के ही पेड़ की चोटी पर घोंसला बनानेवाला नीलकण्ठ पक्षी – सब कुछ नयनाभिराम था । प्रात:कालीन छाया मकान के पीछे पड़ती, परन्तु अपराह्न में हम लोग सामने की ओर बैठकर मानो सिंहगौरव से युक्त जाह्नवी-माता की मानसपूजा तथा दक्षिणेश्वर का दर्शन कर पाते थे ।

अतीत की स्मृतियाँ लिए ऐसे अनेक लोग बीच बीच में आते, जिनसे स्वामीजी के आठ

वर्ष व्यापी परिव्राजक जीवन की कुछ कुछ बातें हमें सुनने को मिलतीं, यथा किस प्रकार वे एक स्थान से दूसरे स्थान को जाते समय अपना नाम बदल लेते, या फिर उनके निर्विकल्प समाधि की अथवा जनसामान्य के लिए अकल्पनीय तथा वर्णनातीत उनके पवित्र ईश्वर-विरह की बातें सुनते; और स्वयं स्वामीजी भी वहाँ आते, उमा-महेश्वर तथा राधा-कृष्ण की कथाएँ सुनाते और कितनी ही कविताओं तथा पदों की आंशिक रूप से आवृति करते।

लगता है, वे जानते थे कि बिना पूर्वापर का सम्बन्ध जोड़े अनेक सजीव तथा भिन्न भिन्न अनुभूतियों का बोध कराना ही एक नवीन चेतना की सृष्टि के लिए प्रारम्भिक उपादान होगा, क्योंकि इससे शिक्षार्थी का मन स्वयं ही उनके बीच तालमेल बैठाने तथा उन्हें शृंखलाबद्ध करने को प्रेरित होता है। भले ही वे इस बात को जानते रहे हों या नहीं, परन्तु वे अचेतन रूप से शिक्षाविज्ञान की इस पद्धति के अनुसार ही चल रहे थे। बहुधा वे हमारे समक्ष भारतीय धर्मों का ही वर्णन करते – आज एक, तो अगले दिन कोई अन्य धर्म – मानो वे अपनी इच्छानुसार ही किसी एक को चुन लेते। परन्तु वे हमें केवल धर्मविषयक उपदेश ही देते हों, ऐसी बात नहीं थी। कभी इतिहास, तो कभी लौकिक उपकथा, तो कभी भिन्न भिन्न समाजों, जातिप्रथा तथा कभी लोकाचार के विविध व विचित्र विरोधाभासों एवं विसंगतियों पर भी चर्चा होती। वस्तुत: उनके श्रोताओं को ऐसा लगता मानो उनके अधरों के माध्यम से स्वयं भारतमाता ही अपने अन्तिम तथा श्रेष्ठतम पुराण के रूप में अभिव्यक्त हो रही हों।

एक अन्य बड़े मनोवैज्ञानिक रहस्य की बात भी वे समझ गये थे कि जो कुछ भी हमें कठिन तथा बीभत्स लगनेवाला था, उन्हें वे कभी मृदु बनाने का प्रयास नहीं करते थे। भारत से सम्बन्धित विषयों में से जो कुछ भी उन्हें पाश्चात्य मानस के लिए अरुचिकर प्रतीत होता, उन्हें वे शिक्षा के प्रारम्भ में ही उसके चरम रूप में हमारे समक्ष रख देते। इसी प्रकार कभी कभी वे हर-गौरी के एकत्व बोधक किसी श्लोक की आवृत्ति करते –

कस्तूरिका चन्दनलेपनायै श्मशानभस्माङ्ग विलेपनाय।
सत्कुण्डलायै फणिकुण्डलाय नमः शिवायैश्च नमः शिवाय ।।१।।
मन्दारमाला परिशोभितायै कपालमाला परिशोभिताय।
दिव्यम्बरायै च दिगम्बराय नमः शिवायैश्च नमः शिवाय ।।२।।
चलत्कणत्कङ्कणनूपुरायै विभ्रत्फणाभासुरनूपुराय।
हेमाङ्गदायै च फणाङ्गनाय नमः शिवायैश्च नमः शिवाय ।।३।।
विलोलनीलोत्पल लोचनायै विकासिपङ्केरुहलोचनाय।
त्रिलोचनायै च विषमेक्षणाय नमः शिवायैश्च नमः शिवाय ।।४।।
प्रपन्नपृष्ठे सुखदाश्रयायै त्रैलोक्यसंहारक ताण्डवाय।
कृतस्मरायै विकृतस्मराय नमः शिवायैश्च नमः शिवाय ।।५।।
चाम्पेयगौरार्धशरीरकायै कर्पूरगौरार्धशरीरकाय।
धम्मिल्लवत्यै च जटाधराय नमः शिवायैश्च नमः शिवाय ।।६।।
अम्भोधरश्यामलकुण्डलायै विभूतीभूषाङ्गजटाधराय।
जगज्जनन्यै जगदेकपित्रे नमः शिवायैश्च नमः शिवाय ।।७।।

सदा शिवानां परिभूषणायै सदाऽशिवानां परिभूषणाय ।
शिवान्वितायै च शिवान्विताय नमः शिवायैश्च नमः शिवाय ।।८।।[१]

उनके ज्वलन्त उत्साह से अनुप्राणित होने से हम इन सबका मर्म समझने में और यहाँ तक कि उस प्रथमावस्था में भी अल्प-स्वल्प अर्थबोध करने में समर्थ हो जाते थे ।

चर्चा का विषय चाहे जो भी रहे, उसका समापन सर्वदा अद्वय-अनन्त भाव में ही जाकर होता था । वास्तविक जगत की ऐसी व्याख्या ही, मुझे लगता है कि हमारे आचार्यदेव के अद्वैतवाद की अनुभूतियों का श्रेष्ठ निदर्शन है । साहित्य, नृतत्त्वशास्त्र अथवा विज्ञान – वे चाहे जो भी प्रसंग उठाते-से प्रतीत होते, यह बात वे सर्वदा हमारे मन में दृढ़ भाव से बैठा देते कि वह भी चरम अनुभूति का ही एक दृष्टान्त है । उनकी दृष्टि में कोई भी वस्तु धर्म की सीमा के परे न थी । बन्धनों को वे घृणा की दृष्टि से देखते थे और जो लोग 'शृंखला को पुष्पों से ढँकना' चाहते हैं, उन लोगों के प्रति उनके मन में आतंक का भाव था; परन्तु उनकी एक वास्तविक समालोचक की दृष्टि, इसके तथा कला के सर्वोच्च रूपों के बीच के भेद को व्यक्त करने से कभी चूकती नहीं थी । एक दिन हम लोगों ने कुछ यूरोपीय सज्जनों को आमन्त्रित किया था । स्वामीजी ने उस दिन फारसी कविता पर सुदीर्घ चर्चा की । फिर सहसा ही उन्होंने निम्नलिखित पद की आवृत्ति की –

अगर आँ तुर्क शीराजी बदस्तारद दिले मारा,
बख़लि हिंदुअस बख़्शम समरकंदो बुखारारा ।। (हाफ़िज)

– "अपने प्रियतम के मुख पर के तिल के बदले मैं समरकन्द का सारा ऐश्वर्य देने को तैयार हूँ" – और उत्साहपूर्वक कहने लगे, "देखो, जो व्यक्ति एक प्रेमगीत का माधुर्य नहीं समझ सकता, उसे मैं एक कानी कौड़ी भी न दूँगा ।" उनकी बातें सरस उक्तियों से परिपूर्ण रहा करती थीं । उसी दिन अपराह्न में किसी राजनीतिक विषय पर विचार करते हुए उन्होंने कहा, "ऐसा लगता है कि एक राष्ट्र का गठन करने के लिए हमें सामान्य प्रीति के समान ही एक सामान्य घृणा की भी आवश्यकता है ।"

कई महीनों बाद उन्होंने कहा था, "जिन्हें जगत में कोई विशेष कार्य करना है, उनके समक्ष मैं कभी उमा-महेश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी देवी-देवता की बातें नहीं करता । इसका कारण यह है कि महेश्वर तथा जगदम्बा से ही कर्मवीरों का उद्भव होता है ।" तथापि इन दिनों भक्ति में ही जो उनकी हर चर्चा का अवसान होता था, इस बात का उन्हें बोध है या नहीं, ऐसा कुतूहल भी कभी कभी हमारे मन में उदित हुआ था । भाव के उच्छ्वास में जिनके शक्तिह्रास की सम्भावना है, उन लोगों के विषय में अपनी आशंका के बावजूद भगवान के प्रति उद्दाम प्रेम में आत्मविस्मृति क्या है, इसका आभास दिये बिना वे रह नहीं पाते थे । इसी कारण वे सुरसहित यह भजन हमारे समक्ष गाया करते –

व्रजकिशोरी राधा प्रेमकुंज की रानी हैं,
और हाथ में मोहिनी बाँसुरी लिए कृष्ण वहाँ का द्वारपाल है ।

---

१. शङ्कराचार्यकृत अर्धनारीश्वरस्तोत्रम्

उसकी बाँसुरी सदा ही गाती रहती है,
'कल्पतरु राधे प्रेमधन का वितरण कर रही हैं,
मैं प्रहरी जरूर हूँ, पर किसी को भीतर जाने की मनाही नहीं है ।
आओ सभी पिपासुओं चले आओ, राधा के नाम की जय बोलो
और प्रेम के राज्य में प्रवेश कर जाओ !'[२]

फिर वे अपने मित्र (गिरीशचन्द्र घोष) द्वारा गोप-गोपिकाओं के प्रश्नोत्तर के रूप रचित गम्भीरभाव का यह गीत भी सुनाते –

पुरुष – परमात्मन पीतवसन नवघनश्यामकाय ।
महिलाएँ – काला, व्रज का ग्वाला, धरे राधा के पाँव ।
पुरुष – नन्दलाल के पद-पंकजों की हम वन्दना करते हैं ।
महिलाएँ – उनकी बाँकी चितवन पर हमारे प्राण न्यौछावर हैं ।
पुरुष – पाण्डवों का सखा-सारथी व्रज के घाटों व गलियों में बंशी बजाता है ।
महिलाएँ – 'हे यज्ञेश्वर निर्भय हर यादवराय' – कहते हुए राधा के नेत्र आँसुओं में डूब जाते हैं ।

ऐसा ही एक दिन (९ मई) कभी भुलाया नहीं जा सकता । एक वृक्ष के नीचे बैठकर हम लोग बातें कर रहे थे, तभी सहसा आँधी आ गयी । पहले तो हम नदी के तटबन्ध पर और उसके बाद बरामदे में चले गये । दस मिनट के भीतर ही गंगा का दूसरा छोर दिखना बन्द हो गया । चारों दिशाएँ अन्धकार से आच्छन्न हो गयीं । केवल मूसलाधार वर्षा तथा वज्रपात की ध्वनि ही कर्णगोचर हो रही थी और बीच बीच में बिजली चमक उठती थी ।

तथापि बाह्य प्रकृति के इन सारे हलचलों के बीच, हम अपने छोटे-से बरामदे में बैठे उससे भी कहीं अधिक गम्भीर एक अभिनय देखने में तन्मय थे । हमारे लघु रंगमंच के एक छोर से दूसरे छोर तक उसके एकमात्र अभिनेता की चहलकदमी चल रही थी; एक ही कण्ठ ने समस्त अभिनेताओं की भूमिका ग्रहण कर ली थी और जीवों का भगवत्प्रेम ही हमारे सम्मुख अभिनीत हो रहे नाटक का विषयवस्तु था । बाद में वही भाव हममें भी संक्रमित हो जाने पर, उस समय हमारे मन में भी ऐसे ऊर्जस्विनी प्रेम की उद्दीपना हुई, जिसे न वेगवान नदी बहाकर ले जा सकती थी और न प्रबल आँधी ही जिसमें बाधा डाल सकती थी। "विपुल जलराशि भी क्या कभी प्रेम की आग को बुझा सकती है; या प्रबल झंझा भी कहीं उस पर विजय पा सकता है?" जड़ में भी प्राणों के संचारकर्ता उन देवता के अन्ततः विदा लेने के पूर्व हम सबने उनके चरणों में प्रणाम किया और उन्होंने भी हमें आशीर्वाद दिया ।

१७ मार्च । हमारे कुटीर-जीवन के प्रारम्भ में स्वामीजी एक दिन धीरामाता तथा जया[३] नामक अपनी दो शिष्याओं को परमाराध्या माताजी (श्री सारदादेवी) से मिलाने ले गये । वे स्वामीजी का निमंत्रण पाकर अपने गाँव से कलकत्ता आयी हुई थीं । वहाँ से वे लोग एक अतिथि-महिला को साथ लेकर लौटे । वह दिन उन महिला को सदा एक महोत्सव के

२. कवि गिरीशचन्द्र घोष द्वारा लिखित 'निमाई-संन्यास' नामक नाटक से
३. श्रीमती ओली बुल तथा कुमारी जोसेफीन मैक्लाउड

समान याद रहेगा। उस दिन गंगा की वह गमक, आचार्यदेव के साथ लम्बी बातचीत और प्रात:काल जया के साग्रह तथा सस्नेह अनुरोध पर उन परम निष्ठावती महिला (माँ श्रीसारदादेवी) द्वारा अपने शिष्यस्थानीय विदेशी महिलाओं के साथ बैठकर भोजन करने की स्वीकृति देना तथा उस दिन जिस मधुर पवित्र सम्बन्ध का सूत्रपात हुआ – इनमें से कुछ भी उन आगन्तुक महिला के लिए भूल सकना सम्भव नहीं है।

२५ मार्च। एक सप्ताह बाद बुधवार के अपराह्न में उन्हीं अतिथि महिला का पुन: आगमन हुआ और शनिवार की संध्या को वे लौट गयीं। उन दिनों प्रतिदिन प्रात:काल कुटीर में आकर सुबह के कई घण्टे वहाँ बिताना, फिर शाम को भी वहाँ आना – यही स्वामीजी की तत्कालीन दिनचर्या थी। इस प्रकार उनके आगमन के द्वितीय दिवस शुक्रवार को, 'द डे ऑफ एनन्सिएशन'[४] के दिन वे हम तीनों को साथ लेकर मठ लौटे और वहाँ मन्दिर में संक्षिप्त अनुष्ठान के पश्चात उन्होंने एक जन (निवेदिता) को ब्रह्मचर्य-व्रत में दीक्षित किया। वही उसके जीवन का सबसे आनन्दमय सबेरा था। पूजा के उपरान्त हम ऊपरी मंजिल पर गये। स्वामीजी ने योगीश्वर शिव के समान जटाजूट, भस्म तथा अस्थि-कुण्डल धारण करके वाद्ययन्त्रों के साथ एक घण्टे तक भारतीय संगीत गाया।

फिर सन्ध्या को गंगावक्ष पर हमारी नौका में बैठे हुए, उन्होंने हृदय खोलकर अपने गुरुदेव से उत्तरदायित्व के रूप में प्राप्त महान कार्य से जुड़ी विविध समस्याओं तथा चिन्ताओं के विषय में हमसे अनेक बातें कहीं। और एक सप्ताह बाद वे दार्जिलिंग गये। फिर प्लेग की सूचना पाकर उनके लौटने तक हमें उनका दर्शन नहीं मिला।

३ मई। इसके बाद हममें से दो की परमाराध्या माताजी के घर में उनसे भेंट हुई। उस समय के राजनीतिक गगन में कालिमा छाई हुई थी। ऐसा लग रहा था कि बहुत दिनों से सम्भावित तूफान अब आसन्न-सा है। रात के समय चन्द्रमा भूरे कुहासे से आच्छन्न रहता था और लोगों की ऐसी धारणा है कि यह प्रजा में अशान्ति का सूचक है। इसके पूर्व ही प्लेग, आतंक तथा दंगे अपनी भीषण मूर्ति दिखा रहे थे। आचार्यदेव ने हम दोनों की ओर उन्मुख होकर कहा, "कुछ लोग ऐसे हैं, जो माँ-काली के अस्तित्व पर कटाक्ष करते हैं, तथापि देखो, आज वे अपने लोगों के बीच अवतीर्ण हुई हैं। लोग भय से आतंकित हैं और मृत्यु से निपटने के लिए सेना को बुला लिया गया है। कौन कह सकता है कि ईश्वर शुभ के समान ही अशुभ के माध्यम से भी अभिव्यक्त नहीं होते? परन्तु केवल हिन्दू ही उनकी अशुभ के भीतर भी पूजा करने का साहस रखता है।"

वे लौट आये हैं और फिर यथासम्भव पहले की ही दिनचर्या आरम्भ हो गयी है; यथासम्भव इसलिए कि महामारी आसन्न थी और लोगों में साहस उत्पन्न करने के उपाय भी किये जा रहे थे। जब तक क्षितिज पर यह सम्भावना मँडराती रही, वे कलकत्ता नहीं छोड़ सकते थे। परन्तु वह सम्भावना दूर हुई और इसके साथ-ही-साथ वे सुखद दिन भी समाप्त हुए। हमारी यात्रा का समय भी आ पहुँचा था। **□(क्रमश:)□**

४. ईसाजननी मेरी को देवदूत ने २५ मार्च के दिन ही उनके होनेवाले जन्म की सूचना दी थी।

हमारी शिक्षा (१)

स्वामी निर्वेदानन्द

(पिछले हजार वर्षों की दासता के दौरान भारत की परम्परागत शिक्षा-प्रणाली ध्वस्त हो गयी थी और उसके स्थान पर लार्ड मैकाले द्वारा परिकल्पित तथा ब्रिटिश साम्राज्य द्वारा प्रारम्भ की हुई प्रणाली ही कमो-बेश आज तक चली आ रही है। स्वामी विवेकानन्द के शिक्षा-विषयक विचारों के आधार पर रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी निर्वेदानन्द जी ने रामकृष्ण मिशन की शिक्षा-सम्बन्धी गतिविधियों पर 'प्रबुद्ध भारत' के १९२८ ई. के छः अंकों में एक लेखमाला प्रकाशित करायी थी और बाद में उसके परिवर्धन तथा सम्पादन के उपरान्त उसे एक पुस्तक का रूप दिया। १९४५ ई. में अपने प्रथम प्रकाशन के बाद से आज तक यह ग्रन्थ अपने विषय पर एक महत्वपूर्ण कृति बनी हुई है। 'विवेक-ज्योति' के आगामी अंकों में क्रमशः इसका एक अविकल अनुवाद प्रस्तुत किया जायेगा। - सं.)

१. भारत में शिक्षा की वर्तमान अवस्था

"अज्ञान ने उन्हें पशुतुल्य बना दिया है।"

"यह मनुष्य बनानेवाली शिक्षा नहीं है, यह केवल और पूर्णतः नकारात्मक शिक्षा है।"

– स्वामी विवेकानन्द

हमारे देश में शिक्षा की वर्तमान अवस्था शोचनीय है। विशाल जनसंख्या का केवल एक अल्पांश मात्र ही साक्षरता के दायरे में आता है। बीसवीं शताब्दी के मध्य में, जबकि पाश्चात्य जगत के अधिकांश राष्ट्रों ने शिक्षा को अपने प्रायः सभी वर्ग के लोगों के लिए सुलभ कर दिया है, यह एक बड़ी दुखद बात है कि भारत में केवल सत्रह प्रतिशत[१] लोग ही साक्षर हो पाये हैं। पश्चिम के उन्नत देशों में काफी काल से शिक्षा कुछ सम्भ्रान्त लोगों के लिए एक सांस्कृतिक विलासिता मात्र न रहकर, राष्ट्रीय उन्नति के एक आवश्यक साधन के रूप में सर्वमान्य हो चुकी है। उनमें से कुछ देशों में माटी के हर पुत्र को आठ वर्ष का प्राथमिक पाठ्यक्रम प्राप्त होता है और कार्य आरम्भ कर देने के बाद भी एक सामान्य श्रमिक को विशेषज्ञता तथा सामान्य ज्ञान की उपलब्धि के लिए विभिन्न औद्योगिक तथा व्यावसायिक प्रतिष्ठानों से जुड़े निशा-विद्यालयों में शिक्षा प्राप्त करनी पड़ती है। और भारत में करोड़ों लोग शिक्षा से पूर्णतः वंचित रह जाते हैं।

जो कुछ भाग्यशाली लोग साक्षर हो पाते हैं, उनमें भी केवल मुट्ठी भर ही तथाकथित उच्च शिक्षा प्राप्त करते हैं। और यह शिक्षा भी, अपने आप में बड़ी अपूर्ण तथा अत्यन्त दोषपूर्ण भी है।

स्वामी विवेकानन्द ने शिक्षा को 'मनुष्य में अन्तर्निहित पूर्णता की अभिव्यक्ति' के रूप में परिभाषित किया है। वस्तुतः पिछली शताब्दी की शिक्षाशास्त्रीय खोजों के बाद से पाश्चात्य

---

१. सन् १९७१ की जनगणना के अनुसार यह उन्तीस प्रतिशत से थोड़ी अधिक थी।

देश ऐसी शिक्षा की धारणा को स्वीकार करने की दिशा में काफी आगे बढ़ चुके हैं । उनकी दृष्टि में शिक्षा का अर्थ है – मनुष्य की विभिन्न क्षमताओं का इस तरह विकास करना, जिससे कि वह अपने समाज तथा राष्ट्र की उन्नति में सर्वोत्तम योगदान कर सके । दोनों (शिक्षक तथा शिक्षार्थी) की तरफ से न्यूनतम प्रयास के द्वारा प्रत्येक विद्यार्थी में निहित निरीक्षण, चिन्तन तथा क्रिया की शक्तियों को व्यक्त करने (और साथ ही) उसे समुदाय का एक स्वस्थ तथा कुशल इकाई बनाने का सुव्यवस्थित प्रयास किया जाता हैं; और साथ ही इस तरह से उसके हृदय के विकास की ओर भी विशेष ध्यान दिया जाता हैं कि वह अपने राष्ट्र, संस्कृति तथा परम्पराओं के प्रति निष्ठावान बना रहे । संक्षेप में कहें तो उन्नत देशों में ज्ञानात्मक, क्रियात्मक तथा भावात्मक शिक्षा को एक निश्चित उद्देश्य को पूरा करने के लिए एक विशेष रूप दिया जाता है ।

परन्तु दुर्भाग्यवश हमारे देश की शिक्षा एक ऐसे सर्वांगीण आदर्श से कोसों दूर है । यह जनता के जीवन तथा परिवेश से पूरी तौर से कटी हुई है । लार्ड रोनाल्डसे अपनी 'Heart of Aryavarta' (आर्यावर्त का हृदय) पुस्तक में लिखते हैं – "यह शिक्षा-प्रणाली भारतीय संस्कृति तथा परम्पराओं से पूर्णत: विच्छिन्न है । हाईस्कूल तथा पूर्व-स्नातक के पाठ्यक्रम मूलत: पाश्चात्य हैं, जो अंग्रेजों के भारत में आने के पूर्व के भारतीय जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं रखते । ये पूर्ण रूप से यंत्रवत हैं और इनमें शिक्षक तथा छात्र के बीच के उस अन्तरंग सम्बन्ध का पूर्ण अभाव है, जो भारतीय प्रणाली का एक विशिष्ट लक्षण हुआ करता था । भारतीय विद्यार्थी की विश्वविद्यालयीन शिक्षा भी उसके मन के वास्तविक विचारों तथा आकांक्षाओं से प्राय: पूर्णत: असम्बद्ध है ।"

हमारे देश की शिक्षा विद्यार्थी के विकास के महत्वपूर्ण आयामों को स्पर्श नहीं करती । केवल बुद्धि का विकास करना ही इसका लक्ष्य है । उपरोक्त ग्रन्थ में ही लार्ड रोनाल्डसे कहते हैं – "बंगाल तथा ग्रेट ब्रिटेन की परिस्थितियों के बीच अन्य विरोधाभासों से भी (सेड्लर) कमीशन काफी विस्मित था । इंग्लैण्ड में शिक्षा बहुमुखी थी । वहाँ अधिकांश छात्र व्यावसायिक पाठ्यक्रमों के अन्तर्गत शिक्षा प्राप्त कर रहे थे और उनकी तुलना में ऐसे छात्रों की संख्या काफी कम थी, जो विशुद्ध साहित्यिक अध्ययन में लगे थे । परन्तु दूसरी ओर बंगाल (बल्कि पूरा भारत) 'किसी भी देश से इस मायने में अलग था कि वहाँ के शिक्षित वर्ग का बहुत बड़ा हिस्सा विश्वविद्यालय की डिग्री को ही अपनी सहज महत्वाकांक्षा का केन्द्र बनाता है' और इस लक्ष्य की प्राप्ति के साधन के रूप में वह ऐसी शिक्षा को अपनाता है, 'जो लगभग पूर्णत: साहित्यिक है तथा इस कारण यह शायद ही कोई प्रत्यक्ष व्यावसायिक प्रशिक्षण प्रदान करता है' ।"

इस प्रकार लगभग सोलह वर्ष का शैक्षणिक जीवन बिताने के बाद भारतीयता के प्रति अपना सारा विश्वास खोकर और जीवन-संग्राम के लिए उपयोगी कोई उपलब्धि किये बिना ही अधिकांश युवक विश्वविद्यालय से बाहर निकलते हैं । सांस्कृतिक आत्महत्या तथा आर्थिक असहायता ही ऐसी व्यवस्था का सुनिश्चित फल होता है । और इसी को कहते हैं – उच्च शिक्षा !

और हमारे यहाँ दी जानेवाली बौद्धिक शिक्षा का स्तर भी काफी नीचा है । हमारे विद्यालय अब भी उन्हीं अस्वाभाविक, अवैज्ञानिक और यहाँ तक कि हानिकारक पद्धतियों से चिपके हुए हैं, जो पाश्चात्य देशों में काफी पहले ही परित्यक्त हो चुके हैं ।

इस प्रकार एक ओर तो शिक्षा के अभाव ने असंख्य जनता को निरन्तर रोग, निर्धनता तथा सामाजिक अत्याचार का शिकार बना रखा है; जबकि दूसरी ओर कुछ गिने-चुने लोग अनुपयुक्त शिक्षा पाने के कारण शारीरिक दुर्बलता, आर्थिक असहायता, सांस्कृतिक विच्छिन्नता और प्राय: नैतिक विकृति के फन्दे में पड़ जाते हैं । ब्रिटिश शासन द्वारा आरम्भ की हुई इस शिक्षा-प्रणाली के कुछ अन्य स्पष्ट दोषों पर भी चर्चा करें, तो हम वस्तुस्थिति को और भी स्पष्ट रूप से समझ सकेंगे ।

२. स्पष्ट कमियाँ

शारीरिक तथा व्यावहारिक

इस समय हमें आवश्यकता है राजसिक शक्ति के प्रचण्ड जागरण की, क्योंकि पूरा देश ही तमस के आवरण से आच्छादित है । इस देश के लोगों को जगाना होगा, पूर्णत: क्रियाशील बनाना होगा ।

– स्वामी विवेकानन्द

हमारी शिक्षा का कोई भी कार्यक्रम तब तक निराशाजनक रूप से अत्यन्त अधूरा रह जायेगा, जब तक कि उसमें जनता को पूर्णत: सक्रिय बनाने के लिए विशेष प्रावधान न किया जाय । हमारे समक्ष एक बड़ी समस्या यह है कि हम अपनी जनता को किस प्रकार स्वस्थ, सबल, परिश्रमी, उत्साही, व्यावहारिक तथा कार्यकुशल बनाएँ । (उधर) अन्य देशों के शिक्षाशास्त्री इस समस्या को सुलझाने में लगे हैं कि वे किस प्रकार पहले से ही सक्रिय राष्ट्रीय ऊर्जा को उन राष्ट्रों की तात्कालिक महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए सर्वाधिक उपयुक्त मार्ग से परिचालित करें । परन्तु हमारे यहाँ तो पहली समस्या राष्ट्रीय ऊर्जा को जगाने की ही है, उसके निर्दिष्ट मार्ग पर चलाने का सवाल तो बाद में उठेगा ।

यह देखकर हमारे रोंगटे खड़े हो जाते हैं कि शताब्दियों तक विदेशी शासकों के अधीन रहकर हमारी जनता किस प्रकार शारीरिक दृष्टि से दुर्बल, आलसी, आरामतलब और दूसरों पर निर्भरशील रहने की अभ्यस्त हो गयी है । यह गर्हित अवस्था भारतीय शिक्षाविदों को अब भी चिन्ता में डाले हुए है ।

कर्म से लगाव हमारी स्वाभाविक मनोवृत्ति नहीं रह गयी है । आवश्यकता से मज़बूर होकर ही हम कर्म करते हैं और साथ ही बड़बड़ाते तथा शिकायतें भी करते रहते हैं । अपनी इस तरह की अनुचित चालाकियों के सहारे अपने उच्चतर अधिकारियों को धोखा देने में हमें जरा-सा भी संकोच नहीं होता ।

घर हो अथवा स्कूल – कहीं भी छात्र को ऐसा प्रशिक्षण नहीं दिया जाता, जो उसमें अच्छे स्वास्थ्य और साथ ही सक्रिय तथा सुव्यवस्थित जीवन के प्रति उसमें लगाव उत्पन्न करे । घर में बालक प्राय: ऐसे परिवेश में विकसित होता है, जिसका सफाई तथा सुघड़ता

से दूर से भी नाता नहीं होता । उसके भोजन, वस्त्र तथा परिवेश के साथ स्वास्थ्य के नियमों का शायद ही कोई सम्बन्ध होता है । शारीरिक व्यायाम को तो अपढ़ तथा उच्छृंखल लोगों की विशेषज्ञता के लिए छोड़ दिया जाता है । फिर सबसे खतरनाक बात तो यह है कि अपने स्नेहपूर्ण सम्बन्धियों तथा नौकरों के द्वारा उसे प्राय: हर प्रकार के शारीरिक श्रम से मुक्त कर दिया जाता है । और ऐसी आशा की जाती है कि वह सर्वदा एक दुधमुँहा बालक ही बना रहे । इस प्रकार हमारे अधिकांश मध्यवर्ग के घरों में शरीर-निर्माण का कार्य पूर्णत: प्रकृति के ही हाथों में छोड़ दिया जाता है और विकासशील बालक व्यक्तिगत स्वावलम्बन के अत्यन्त प्रारम्भिक अभ्यासों से भी वंचित रह जाता है । जैसा कि स्वाभाविक है इससे वह लापरवाह, अनियमित, अव्यावहारिक, आलसी तथा बहुधा अपनी आदतों में फूहड़ हो जाता है । और जब वह कॉलेज जीवन के दम्भ तथा शारीरिक श्रम के प्रति पूर्ण अरुचि से ग्रस्त हो जाता है, तो ये आदतें और भी गहराई से जड़ें जमा लेती हैं ।

स्कूलों तथा कॉलेजों में अब तक दी जानेवाली शिक्षा पूरी तौर से किताबी थी । अपने बच्चों को डिग्रियाँ दिलवाना ही अभिभावकों की एकमात्र आकांक्षा थी और इसी की पूर्ति शिक्षा-संस्थाओं का एकमात्र कार्य प्रतीत होता था । किसी को भी छात्र के विकास की चिन्ता नहीं थी । Annals of the American Academy of Political and Social Scienceमें प्रकाशित अपने एक लेख में बूकर टी. वाशिंग्टन ने लिखा है – "वह शिक्षा जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से व्यावहारिक तथा दैनन्दिन अभिरुचियों से जुड़ नहीं पाती, उसे शायद ही शिक्षा कहा जा सके । ... शिक्षा श्रम से बचने के साधन के स्थान पर श्रम के दर्जे को उठाने तथा उसे मर्यादा प्रदान करने का एक साधन है और इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से साधारण व्यक्ति को ऊपर उठाने तथा मर्यादा दिलाने का एक साधन है ।"

एक अन्य अवसर पर टस्केगी संस्थान के छात्रों को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा था – "एक ऐसे राष्ट्र या व्यक्ति जिसकी निश्चित आदतें नहीं हैं, रहने का निश्चित स्थान नहीं है; सोने, सुबह उठने तथा काम पर जाने का कोई निर्धारित समय नहीं है; जीवन के सामान्य कार्यों में कोई क्रम, व्यवस्था या श्रृंखला नहीं है – उस राष्ट्र या व्यक्ति में आत्मसंयम तथा सभ्यता के कुछ मूलभूत तत्त्वों का अभाव होता है ।"

पिछली शताब्दी के दौरान उन्नत राष्ट्रों के शिक्षाशास्त्री किस प्रकार शारीरिक प्रशिक्षण तथा क्रियान्वयन की क्षमता के प्रशिक्षण के महत्व के बारे में सचेत हुए हैं और अपनी पुरानी शिक्षा-प्रणाली में जो युगान्तरकारी परिवर्तन ला रहे हैं, यह दिखाने के लिए अमेरिका की 'नाइन्टीन्थ सेन्चुरी सिरीज ऑफ अमेरिका' के अन्तर्गत प्रकाशित 'Education in the Century' (इस शताब्दी में शिक्षा) नामक पुस्तक के कुछ अंश यहाँ उद्धृत किये जाते हैं –

"वह राष्ट्र के इतिहास का एक युगारम्भ था, जबकि पिछली शताब्दी के अन्तिम पाद में विश्वविद्यालय अपने छात्रों की शारीरिक शक्तियों के विकास हेतु व्यायाम-शिक्षक नियुक्त करने लगे । अब वह समय दूर नहीं, जब विश्वविद्यालय की डिग्रियाँ देते समय शारीरिक विकास को भी ध्यान में रखा जायगा ।

"ज्ञान तभी शक्ति में परिणत होता है, जब इसकी उपलब्धि मनुष्य में क्रियान्वयन की

प्रवृत्ति के विकास में सहायक होती है, जब यह पुरुष या नारी के स्वक्रिया द्वारा उसके वैशिष्ट्य के साथ जुड़ी रहती है और उनके द्वारा बृहत्तर व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति के साधन के रूप में प्रयुक्त होती है ।

"उत्पादकता की दृष्टि से एक व्यक्ति के प्रभावी जीवन-कार्य के लिए उसकी सक्षमता में प्रयुक्त होनेवाले प्रत्येक तत्त्व का प्रशिक्षण उसे शैक्षणिक संस्थाओं में दिया जाना चाहिए और उसे एक स्कूल से दूसरे स्कूल में उन्नीत करने तथा उसके जीवन-कार्य आरम्भ करने के पूर्व उसके अन्तिम श्रेणी निश्चित करते समय इसके आपेक्षिक मूल्य का भी ठीक ठीक निर्धारण होना चाहिए ।

"जब तक छात्र को उसके व्यक्तिगत स्तर पर उसकी विशिष्ट क्षमता का क्रियान्वयन करने में प्रशिक्षित नहीं किया जाता, तब तक शिक्षा अधूरी है – शिक्षकों को इस बात का बोध होने के बाद से शिक्षण में काफी प्रगति हुई ।

"क्रियान्वयन-क्षमता के प्रशिक्षण के अभाव में बालक किसी भी क्षेत्र में उत्कृष्टता व्यक्त करने में अक्षम होते हैं । ... उन्हें अव्यावहारिक कहा जाता है; वे सकारात्मक नहीं नकारात्मक हो जाते हैं; उनमें शक्ति, ऊर्जा तथा लक्ष्य के प्रति निश्चितता का अभाव होता हैं; उन्हें अपने स्वयं के व्यक्तित्व में सच्ची श्रद्धा नहीं रहती; वे अपनी स्वयं की सर्वोत्कृष्ट क्षमता को पहचान नहीं पाते; वे अपने आप में बन्द होकर रह जाते हैं; समाज को, सम्प्रदाय को या अपने राष्ट्रीय जीवनधारा को अपने कर्तव्य के अनुरूप प्रभावित करने में असफल रह जाते हैं; और मरते समय वे अपने पीछे बिताये जीवन का कोई भी चिह्न नहीं छोड़ जाते।

"बालक को उसकी उत्पादकता की शक्तियों में प्रशिक्षित करना चाहिए – इस आदर्श के प्रचार के साथ-ही-साथ शारीरिक-कर्म के प्रशिक्षण को भी, यूरोप तथा अमेरिका की सामान्य शिक्षा-प्रणाली के एक अभिन्न अंग के रूप में प्राय: सार्वभौमिक स्वीकृति मिल गयी है । पहले तो इसे आर्थिक कारणों से आरम्भ किया गया था, ताकि छात्र अपने जीविकोपार्जन में सक्षम हो सकें । ... (परन्तु) शताब्दी के अन्त तक बौद्धिक शक्ति के विकास, मस्तिष्क तथा हाथ के समायोजन, निरीक्षण की शक्तियों की उन्नति, निश्चित तथा सोद्देश्य विचार करने की क्षमता के विकास हेतु; बालक को व्यावहारिक, सक्रिय, स्वाधीन, मौलिक व्यक्तित्व-निर्माण के लिए, और उसकी रचनात्मक उत्पादकता की प्रवृत्ति की रक्षा करते हुए तथा उत्पादक परिणामों में उत्साहित करके उसमें नैतिक स्वभाव को प्रशिक्षित करने के लिए लोगों को एक महत्वपूर्ण शैक्षणिक कारक के रूप में शारीरिक प्रशिक्षण का महत्व समझ में आ गया था ।"

उपरोक्त उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार शारीरिक प्रशिक्षण तथा साथ ही क्रियान्वयन की शक्ति का विकास पाश्चात्य 'शिक्षा' का एक प्रमुख तत्त्व बन गया है । एक यूरोपीय राष्ट्र के प्राथमिक विद्यालयों की पढ़ाई के दौरान विभिन्न कक्षाओं में ड्रिल की विभिन्न मुद्राओं में बैठाया जाता है । किसी-न-किसी प्रकार का ड्रिल तथा शारीरिक व्यायाम सबके लिए अनिवार्य है । ऐसे छोटे शिशु, जिन्होंने अभी चलना या बोलना नहीं सीखा है, उनके लिए भी वे लोग अनैच्छिक (involuntary) व्यायाम की प्रणाली पर शोध कर रहे हैं । इसके

अतिरिक्त व्यावहारिक प्रवृत्ति को जगाने के लिए प्रत्येक स्कूल के पाठ्यक्रम में शारीरिक क्रियाओं के एक क्रमिक कोर्स की व्यवस्था की गयी है । कागज को मोड़ना, काटना, फाड़ना; बालू का काम, मिट्टी के मॉडल बनाना, बढ़ई का काम, चित्रकारी – ये शारीरिक क्रियाओं के विविध रूप हैं । इन शारीरिक क्रियाओं को पाठ्य-पुस्तकों अथवा इतिहास या भूगोल के पाठों के साथ समायोजित करके इन्हें और भी रोचक तथा उपयोगी बना लिया जाता है । छात्रों से अपेक्षा की जाती है कि वे अपने पाठों को कागज, दफ्ती, बालू, मिट्टी, लकड़ी तथा अन्य साधनों से बने मॉडलों द्वारा रूपायित करें । ऐसे सैकड़ों खेल सिखाये जाते हैं, जो प्रत्येक बालक की निरीक्षण-शक्ति को विकसित करते हैं, शोध की प्रतिभा को उत्प्रेरित करते हैं और उसे सक्रिय, सजग तथा सुनियमित बनाने में सहायता करते हैं । इन सबके अतिरिक्त छात्रों को अपने शरीर तथा वस्त्रों के मामले में उच्च स्तर की सफाई बरतने को प्रेरित किया जाता है । स्कूल में बेतरतीब कपड़ों या गन्दे दाँतोंवाले छात्र के साथ कड़ाई बरती जाती है । यहाँ तक कि घर में छोटे शिशुओं को भी स्वच्छ, व्यवस्थित तथा आत्मनिर्भरता में प्रशिक्षित किया जाता है । घर में घूमते हुए अपने जूते निकाल देनेवाले शिशु से उसे उठाकर नौकर के पीछे पीछे जाकर उसे ठीक ढंग से यथास्थान रखवाया जाता है । इस सन्दर्भ में बच्चों को घर तथा स्कूल – दोनों ही स्थानों में आज्ञापालन तथा अनुशासन का जो प्रशिक्षण मिलता है और इससे इतनी छोटी आयु में ही उनमें जो स्वाभिमान तथा उत्तरदायित्व का बोध जाग उठता है – ये निश्चित रूप से ऐसे सबल तत्त्व हैं, जो उनके राष्ट्रीय जीवन की मर्दानगी तथा कुशलता में काफी बड़ा योगदान करते हैं ।

पाश्चात्य शिक्षा के इस पक्ष का रहस्य बूकर टी. वाशिंग्टन की निम्नलिखित उक्ति से प्राप्त किया जा सकता है – "मनुष्य के निर्माण में पाठ्य-पुस्तकें बहुत हुआ तो उपकरणों और बहुधा अप्रभावी उपकरणों के समान हैं । वह शिक्षक जो युक्तिपूर्वक अपने छात्रों को फटे-पुराने कपड़ों को भी झाड़कर तथा धब्बों आदि की सफाई करके रखना सिखा सकता है, वह स्कूल के प्रभाव को घर तक विस्तारित करता है और घर के स्वाभिमान में अपार योगदान करता है । ... कमरों की सफाई तथा बर्तनों की धुलाई के साथ चरित्र-निर्माण का घनिष्ठ सम्बन्ध है ।"

हमें इन लोगों के अनुभव से यह पाठ सीखना होगा । हमारे स्कूलों को प्रत्येक बालक के शारीरिक विकास तथा क्रियान्वयन-क्षमता के प्रशिक्षण का भार अपने ऊपर ले लेना चाहिए । शारीरिक व्यायाम, किसी-न-किसी प्रकार का ड्रिल, शारीरिक कार्य; सफाई, नियमितता, समय की पाबन्दी तथा स्वावलम्बन की इन आदतों के विकास हेतु कठोर अनुशासन – इन्हें हमारे स्कूलों में भी उतना ही प्राधान्य मिलना चाहिए, जितना कि उन्नत देशों में प्राप्त होता है । इस प्रकार हमारी जनता को मजबूत, सक्रिय तथा कुशल बनाने में हमारे स्कूलों को बहुत बड़ा योगदान करना होगा ।

यह बड़े ही आनन्द की बात है कि हमारी राष्ट्रीय सरकार ने हमारी स्कूली शिक्षा की इस कमी को दूर करने की दिशा में ध्यान देना आरम्भ कर दिया है । ❒ (**क्रमशः**) ❒

आधुनिक मानव और कर्मयोग

स्वामी सत्यरूपानन्द

हम गति एवं क्रियाशक्ति के युग में जी रहें हैं। गत एक सौ पचास वर्षों के वैज्ञानिक आविष्कारों एवं तकनीकी प्रगतियों ने हमारे जीवन को बुरी तरह प्रभावित किया है। मशीनी साधनों जैसे इंजनों, मोटरों एवं हवाई-जहाजों ने हमारी गतिविधियों में इतनी तेजी ला.दी है कि पृथ्वी के दूरस्थ फासले भी अविश्वसनीय रूप से सिमट कर रह गए हैं। अब कलकत्ता से न्यूयार्क या मास्को की यात्रा तो चन्द घण्टों की बात रह गई है। गति ने दूरी पर विजय पा ली है। इस द्रुत गति ने हमारी समय-व्यवस्था को अत्यधिक प्रभावित किया है। संचार के साधन जैसे टेलिफोन, टेलिविजन, रेडियो आदि ने वह द्रुतगामी संचार-व्यवस्था हमारे हाथों थमाई है कि अब हम पलक झपकते ही कोई भी समाचार इस ग्रह के एक कोने से दूसरे तक प्रेषित कर सकते हैं। मशीनी संयन्त्रों ने आधुनिक मानव की कार्यक्षमता को भी बढ़ा दिया है। जो काम मशीन के बिना सौ लोग कर पाते वह अब मशीन की सहायता से केवल अकेले व्यक्ति के लिए सम्भव हो गया है। इस बढ़ी हुई कार्य-क्षमता ने कई मूलभूत मनोवैज्ञानिक एवं नैतिक समस्याओं को जन्म दिया है। आधुनिक मानव अल्पसमय में अधिकाधिक कार्य करने का इच्छुक है। इस तरह से वह निरन्तर सक्रिय एवं अशान्त बन बैठा है। वह सदैव व्यस्त रहता है। मशीनी संयन्त्र द्रुत परिणामगामी होते हैं। इन साधनों ने आधुनिक मानव को पहले की अपेक्षा ज्यादा ही लोभी एवं अधीर बना दिया है। वह अधिक से अधिक प्राप्त करना चाहता है। इस लोलुपता ने उसे अत्यधिक क्रियाशील एवं अशान्त कर दिया है। मशीनी उपकरणों का आविष्कार मनुष्य को आराम एवं राहत अतिरिक्त समय प्रदान करने के लिए किया गया था। परन्तु विडम्बना यह है कि इन वैज्ञानिक एवं तकनीकी साधनों के होते हुए भी आधुनिक मानव अवकाश नहीं पाता। उसके पास समय नहीं है। कर्म उसके लिए एक नशा बन गया है एवं वह उसका आदी हो गया है। यदि उसे अवकाश प्रदान किया भी जाए तो वह उसके लिए अभिशाप बन जाता है। वह नहीं जानता कि प्राप्त समय के साथ किया क्या जाए? अवकाश मिलने पर वह अपने आपको व्यस्त एवं क्रियाशील रखने हेतु सहस्रों वस्तुओं का आविष्कार कर लेता है।

एक प्रश्न उभरता है : क्या कर्म स्वयं मानव के लिए इतना विभ्रान्तकारी एवं विनाशक है? क्या मानव कर्म का चिर गुलाम है ? क्या वह उसे सन्तोष एवं मानसिक शान्ति प्रदान कर सकेगा? इन सभी विवादास्पद प्रश्नों के उत्तर कर्मयोग पर अपने उपदेशों में स्वामी विवेकानन्द ने दिए हैं। आधुनिक मानव के लिए यह रामबाण ही हैं। कर्मयोग के विस्तृत विवेचन के पूर्व, आइए, हम संक्षेप में मानव के उसके वास्तविक स्वरूप का विश्लेषण करें। क्योंकि न केवल कर्मयोग अपितु, चारों योगों का परम उद्देश्य इस बात पर निर्भर करता है कि मनुष्य को हम किस रूप से देखते हैं ?

कुछ मतावलम्बियों की यह अवधारणा है कि किसी एक निश्चित दिन सर्वप्रथम मनुष्य की उत्पत्ति हुई एवं उसे कुछ वर्षों तक रहने के लिए धरती पर धकेल दिया गया। तत्पश्चात् या तो नरक में वह 'सदा के लिए दण्डित' रहे या फिर स्वर्ग में 'चिरकाल के लिए प्रवेश' कर ले और यह सब उसके 'विश्वास' के आधार पर निर्धारित होगा। इसके लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता न होगी कि आधुनिक मानव को इसपर विश्वास करने हेतु कहना उसका अपमान ही करना है। हम देखते हैं कि पृथ्वी पर मनुष्य का जीवन नश्वर है तथा मृत्यु को टाला नहीं जा सकता। परन्तु मानव जीवन में क्या मृत्यु ही अन्तिम सत्य है ? क्या मनुष्य में उसके शरीर के भस्मीभूत होने के बाद सब कुछ नष्ट हो जाता है ? अमृतत्व हेतु मानव की यह एकमात्र जिज्ञासा इसी प्रश्न से प्रारम्भ होती है तथा उसके उत्तर में समाप्त हो जाती है। क्या मानव महज कुछ पौण्ड अस्थि, मज्जा तथा रक्त के सम्मिश्रण का फल है जो प्रकृति के नियमों पर आधारित हों तथा जिसके फलस्वरूप उसमें कुछ हलचल हो जिसे जीवन की संज्ञा दी गई है ? कुछ वर्षों बाद प्रकृति स्वय ही इस सम्मिश्रण को सदा के लिए नष्ट कर डालती है। यह किसी को ऐसा महसूस करने पर बाध्य करता है जैसे किसी शून्य से कुछ जादुई रूप के प्रकट हुआ एवं पुनः उसी शून्यता में कहीं विलीन हो गया। क्या इस नश्वरता के पार्श्व में कोई नित्य सत्ता विद्यमान है ही नहीं ? यही वह प्रश्न है जिसका उत्तर खोजने में समस्त सन्तों एव ऋषियों ने अपना जीवन व्यतीत किया। स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में इसका उत्तर है : "देह भी आत्मा नहीं है और मन भी आत्मा नहीं; क्योंकि इन दोनों में ह्रास और वृद्धि होती है। जड़ जगत् से अतीत आत्मा ही अनन्त काल तक रह सकती है।"[१]

इस नश्वर देह के पार्श्व में जो यथार्थ पुरुष विद्यमान है वही आध्यात्मिक सत्ता है जो सब अस्तित्वों का सारभूत है। वह अमर, अजन्मा एवं सनातन है। देह की मृत्यु हो जाने पर भी वह नहीं मरता। भगवद्गीता असन्दिग्ध रूप से घोषणा करती है : "यह आत्मा किसी काल में भी न तो जन्मता है और न मरता ही है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होनेवाला ही है ? क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन, और पुरातन है; शरीर के मारे जाने पर भी यह मारा नहीं जाता।"[२]

यथार्थतः मनुष्य आत्मा ही है। "जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्यागकर दूसरे नए वस्त्रों को ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरों को त्यागकर दूसरे नए शरीरों को प्राप्त होता है।"[३] आचार्य शंकर ने विवेकचूड़ामणि में आत्मा, अर्थात् यथार्थ पुरुष जो शरीर नामक नश्वर प्रातिभासिक सत्ता से परे होती है, का सुन्दर वर्णन करते हुए लिखा है, "वह न जन्मता है, न मरता है, न बढ़ता है, न घटता है और न विकार को प्राप्त होता है। वह नित्य है और शरीर के लीन होने पर भी घट के टूटने पर घटाकाश के समान लीन नहीं होता।"

हिन्दू शास्त्रों से ऐसे कितने ही उद्धरण दिए जा सकते हैं जो यह उद्घोषित करते हैं कि इस नश्वर देह के पार्श्व में एक यथार्थ पुरुष है जो नित्य है। सत्य एक ही है। जो कोई भी उस

के साक्षात्कार की शर्तों को पूरी करता है, वही उसे पा लेता है। कभी-कभी उस सत्य के वर्णन में हम जो भेद पाते हैं वह उसे जाननेवालों की भाषा एवं अभिव्यक्ति के ढंग की वजह से होता है। हरएक सत्यवेत्ता की अभिव्यक्ति का अपना ढंग हो सकता है, जो अन्यों के सन्दर्भ में अनोखा एवं निराला लगे। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि सत्य ही भिन्न हो। कुछ प्राचीन ग्रीक विचारक आत्मा की नित्यता में विश्वास करते थे।

यदि यथार्थ पुरुष सनातन एवं नित्य है तब उसका स्वरूप कैसा है ? जो कुछ भी सनातन एवं नित्य होगा उसका कोई रूप नहीं हो सकता क्योंकि रूप का अर्थ ही हुआ कि उसका कोई विशिष्ट आकार हो। परन्तु सीमित हुए बगैर रूप का होना सम्भव नहीं जो अन्य रूपों एवं आकारों से सर्वथा भिन्न हो। इसमें किसी तर्क की आवश्यकता नहीं है कि सीमाबद्धता नित्यता का खण्डन करती है। अतः आत्मा को किसी आकार के रूप में परिभाषित नहीं किया जा सकता। जिस किसी वस्तु का रूप न हो उसे आकाश एवं काल में सीमित नहीं किया जा सकता तथा जो इनसे सीमित नहीं है उसपर मृत्यु के सिद्धान्त लागू नहीं किए जा सकते क्योंकि मृत्यु के सिद्धान्त आकाश एवं काल के सीमाबद्ध होते हैं। जिस सत्ता का कोई रूप न हो, जो आकाश, काल एवं कार्य-कारण सम्बन्ध से परे हो, वह निश्चय ही सर्वव्यापी एवं अनन्त होगा।

यह विश्लेषण हमें उस भव्य एवं आश्चर्यजनक तथ्य की ओर ले जाता है कि अनन्त एक है, क्योंकि ऐसा विचार कि अनन्त एक से अधिक हो, महज विरोधात्मक है। इसलिए इस नश्वर देह के परे जो यथार्थ पुरुष है, वह एकमेवाद्वितीय है, वही सत्-चित्-आनन्द है, जैसा कि हमारे हिन्दू शास्त्र प्रतिपादित करते हैं। सभी योगों का यही उद्देश्य है कि वे मानव को नश्वरता से नित्यता की ओर ले जाएँ एवं उसे इस नित्य अवस्था का अनुभव करवा दें जिससे कि वह उसमें नित्य प्रतिष्ठित हो जाए। कर्मयोग उनमें से ऐसा ही एक मार्ग है जो मानव जीवन को उस चरम लक्ष्य की ओर पहुँचा दे।

कर्म का सिद्धान्त

कर्म का सिद्धान्त वह आधारशिला है जिस पर हिन्दू धर्म एवं दर्शन का भव्य प्रासाद स्थापित किया गया है। विशाल हिमालय के सदृश यह देश-विदेश के अधार्मिक, अनाध्यात्मिक एवं भौतिक सिद्धान्तवादी विचारकों के आक्रमणों को युगों से सफलता-पूर्वक सहन करता आ रहा है। यह कर्म के सिद्धान्त के द्वारा ही सम्भव है जो हिन्दू दर्शन इस पृथ्वी पर मानव जीवन एवं प्रकृति की विविधता एवं असगति की पहेली को सफलतापूर्वक सुलझाता आ रहा है। एक छोटे-से बीज को बो दीजिए, सिंचित कीजिए और वह अंकुरित हो उठता है। उस पेड़ में फल लगते हैं एवं फलों में बीज रहते हैं। बीज पेड़ का कारण है एवं पेड़ बीज का कारण। इस तरह यह चक्र घूमता है। कारण एवं कार्य अभिन्न रूप से अनुस्यूत हैं। कार्य-कारण का यह नियम ही हिन्दू दर्शन में कर्म-सिद्धान्त कहलाता है।

पूरी प्रकृति का प्रपंच ही भौतिक,मानसिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक,ये सब मृत्यु के

सिद्धान्त के अधीनस्थ हैं। स्थूल भौतिक स्तर पर कारण एवं उसके कार्य के बीच सम्बन्ध का पता लगाना सहज है। परन्तु ज्योंही हम स्थूल भौतिक स्तर से सत्ता के सूक्ष्म स्तर पर जाते हैं, कारण एवं कार्य के बीच की कड़ी का पता लगाना अधिकाधिक दूभर हो जाता है। उदाहरणार्थ, शरीर में जब कहीं गड़बड़ होती है, साधारणतः हम उसके कारण को ढूँढ़ निकालते हैं, एवं ज्योंही कारण को दूर किया तब कार्य या परिणाम चला जाता है। परन्तु जब हम मानसिक दायरे में प्रवेश करते हैं, किसी मानसिक परेशानी का कारण ढूँढ़ने हेतु, तब वह असम्भव न भी हो तो कठिन अवश्य हो जाता है। नैतिक एवं आध्यात्मिक स्तर में साधारण मनुष्य के लिए कार्य-कारण के सम्बन्ध को ढूँढ़ निकालना प्रायः असम्भव-सा हो जाता है। चाहे हम मानें या न मानें, पृथ्वी पर हमारा जीवन भौतिक, मानसिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक कारणों का सम्मिलित परिणाम ही है। हमारा जीवन विभिन्न स्तरों में इन सभी पहलुओं की एक सम्पूर्ण इकाई है।

मनुष्य ही कारण तथा मनुष्य ही कार्य भी है

तर्क का क्षेत्र वहीं से शुरु होता है जहाँ अवगमता की हमारी सरहद समाप्त होती है। यदि हमारी विचार शक्ति सूक्ष्मतर स्तरों पर कार्य-कारण के सिद्धान्तों को ग्रहण करने में असफल रहती है तो इसका अर्थ यह नहीं कि वह सक्रिय नहीं रहा करती। जब हम सूक्ष्म सिद्धान्तों के दायरे में सीधे पहुँच नहीं पाते, तब हमें तर्क एवं युक्ति का सहारा लेना पड़ता है। और जब हम यह पाते हैं कि ऋषि-मुनियों के शब्द हमारे तर्क एवं युक्ति से विरोध नहीं रखते तो उन्हें स्वीकार करना ही चाहिए, क्योंकि ऋषिगण अपनी आध्यात्मिक अन्तःप्रज्ञा की विशुद्ध शक्ति के तहत उस क्षेत्र में अपनी पहुँच रखते हैं।

मनुष्य स्वयं के कर्मों का कर्ता है। उसका जीवन कारण एवं कार्य से बना होता है। इसलिए जैसा बोए वैसा ही पाए वाली बात है: आज वह जो कुछ भी है वह स्वयं ही उसका कारण है। जो कुछ भी उसके समक्ष आता है वह उसके कर्मों का ही फल है। कोलम्बो की अपनी प्रसिद्ध वक्तृता में स्वामी विवेकानन्द दर्शाते हैं, "प्रत्येक मनुष्य में कोई न कोई विशेषता होती है, प्रत्येक व्यक्ति भिन्न-भिन्न मार्गों से उन्नति की ओर अग्रसर होता है। हम कहते हैं, पिछले अनन्त जीवनों के कर्मों द्वारा मनुष्य का वर्तमान जीवन एक निश्चित मार्ग से चलता है। क्योंकि अतीत के कर्मों की समष्टि ही वर्तमान में प्रकट होती है; और वर्तमान में हम जो कुछ कर्म कर रहे हैं, हमारा भावी जीवन उसी के अनुसार गठित हो रहा है।"[८]

अतः हम देखते हैं कि आज वह जो भी है उसके लिए मनुष्य स्वयं जिम्मेदार है तथा भविष्य में वह जो कुछ भी होगा उसके लिए भी वह स्वयं उत्तरदायी होगा। इसलिए वह अपने भाग्य का स्वयं ही निर्माता है।

नासूर

हमारा प्रश्न था . क्या कर्म इतना विकृत है कि वह मानव की दुर्गति कर दे ? यदि ऐसा है, तो क्या सम्भव है कर्म का त्याग कर शान्ति से रहा जाए ?

गीता कहती है, "निःस्सन्देह कोई भी मनुष्य किसी भी काल में क्षणमात्र भी बिना कर्म किए नहीं रहता, क्योंकि सारा मनुष्य-समुदाय प्रकृतिजनित गुणों द्वारा परवश हुआ कर्म करने के लिए बाध्य किया जाता है।"[६]

जब कर्म का त्याग असम्भव है, तो क्या कोई मार्ग है जिसके द्वारा कर्म के परिणामों से बचा जा सके ? महान् सन्त, मुनि एव शास्त्र हमें यह बतलाते हैं कि ऐसा मार्ग अवश्य है। उनकी शिक्षाओं के विस्तार में जाने से पूर्व जो कि हमें कर्म के परिणामों के बन्धनों से मुक्त करते हैं, आइये हम देखें कि वह क्या है जो हमें कर्म के फलों से बाँधता है ? कर्म अपने में न कभी पूर्णतया अच्छा होता है अथवा पूर्णतया बुरा ही। प्रत्येक कर्म अच्छे एव बुरे तत्त्वों का सम्मिश्रण होता है। कुछ प्रकार के कर्मों में अच्छे तत्त्व कुछ अधिक हो सकते हैं एवं अन्यों में वे न्यून हो सकते हैं, बस इतना ही। कर्म का अच्छा या बुरा परिणाम तभी बन्धन का कारण बन जाता है जब कर्ता अपने कर्म के फल से अपने आपको आसक्त कर लेता है। इस आसक्ति के साथ ही सब प्रकार के बन्धन चले आते हैं और उसके फलस्वरूप दुःख का आगमन होता है। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं - "आसक्ति तभी आती है, जब हम प्रतिदान की आशा रखते हैं।"[७]

यह अपेक्षा करना ही आधुनिक मानव का 'नासूर' है जो उसके अस्तित्व के मर्मस्थल को खाए जा रहा है। जीवन का आधुनिक ढंग, वर्तमान सामाजिक एव आर्थिक स्थिति तथा हमारी वर्तमान शिक्षा पद्धति सबसे पहले मानव को यह सिखाती है कि कर्म का फल पाना उसका अधिकार है। हमेशा कर्म के फलों की अपेक्षा एवं आशा रखने की उसकी प्रवृत्ति ने उसे भिखारी बना दिया है तथा यही बन्धन एवं दुःख का कारण बन गया है।

आसक्ति का एक अन्य बड़ा कारण इस भाव में है कि कोई मुझपर आश्रित है और मैं उसका भला कर सकता हूँ। यह भाव ही भ्रान्तिकर है। परन्तु यह भाव इतने चुपके से इस तरह प्रवेश कर जाता है कि विद्वान एवं अनुभवी व्यक्ति भी प्रायः भ्रमित हो जाते हैं। थोड़े-से विचार करने पर यह प्रकट हो जाएगा कि दरअसल कोई भी हमपर आश्रित नहीं है। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि हमारी मनोवृत्ति ही हमारी आसक्तियों का मूल कारण हैं। वे कहते हैं, "यह सोचना कि मेरे ऊपर कोई निर्भर है तथा मैं किसी का भला कर सकता हूँ, अत्यन्त दुर्बलता का चिह्न है। यह अहंकार ही समस्त आसक्ति की जड़ है और इस आसक्ति से ही समस्त दुःखों की उत्पत्ति होती है।

अतः हम देखते हैं कि कर्म न तो अपने आपमें बन्धन का कारण होता है और न ही वह मानव को भ्रष्ट करता है। परन्तु मन एवं कर्ता की मनोवृत्ति ही बन्धन एव आसक्ति का कारण होती है। जब मनोवृत्ति बदल दी जाती है तथा मनुष्य अपने कर्म हेतु प्रत्याशा नहीं चाहता, जब वह यह कल्पना करना बन्द कर देता है कि कोई मुझपर आश्रित है तथा यह कि मैं अन्यों का भला कर सकता हूँ, तब वही कर्म उसकी मुक्ति का साधन बन जाता है। अमृतबिन्दु उपनिषद् कहता है, "मनुष्य का मन ही उसकी मुक्ति अथवा बन्धन का कारण होता है।"

मनुष्य की विलक्षणता यह है कि वह अपने प्रयोजन चुनने के लिए स्वतन्त्र है। वह अपने कर्म को चुनने में सदैव स्वतन्त्र न भी हो सके, परन्तु कर्म के प्रति अपना भाव चुनने में स्वतन्त्र है। वृत्ति या प्रयोजन को चुनने की स्वतन्त्रता ही उसे दिए हुए कर्म का 'कर्ता' बना देती है। और एक बार प्रयोजन निर्धारित कर लेने पर उसे कर्म के अच्छे या बुरे परिणाम अपनी वृत्ति के अनुसार स्वीकार कर लेने पड़ते हैं।

प्रत्येक कर्म दो प्रकार के परिणाम पैदा करता है - स्थूल ठोस परिणाम जिसे कि बाहर देखते हैं, तथा दूसरा उसी कर्म को बार-बार दुहराने की प्रवृत्ति। दूसरा परिणाम सूक्ष्म है तथा सीधे चित्त से जुड़ित है। तकनीकी भाषा में इसे 'संस्कार' कहा जाता है। यदि कर्ता के मन में संस्कार उत्पन्न नहीं करता तो वह कर्म उसके लिए बन्धनकारक नहीं हो सकता। यह संस्कार हमारे अवचेतन मन में प्रवेश कर जाता है तथा हमें उसी कर्म में पुनः प्रवृत्त करने हेतु अवसर की प्रतीक्षा करता रहता है। हो सकता है कि ऐसा करने में कुछ विलम्ब भले ही हो। कर्मयोग-वक्तृता में स्वामीजी मन को एक झील की उपमा देते हुए दर्शाते हैं, "हमारा प्रत्येक कार्य, हमारा प्रत्येक अंग-संचालन,हमारा प्रत्येक विचार हमारे चित्त पर इसी प्रकार का एक संस्कार छोड़ जाता है, और यद्यपि ये संस्कार ऊपरी दृष्टि से स्पष्ट न हों, तथापि ये अवचेतन रूप से अन्दर ही अन्दर कार्य करने में पर्याप्त समर्थ होते हैं।"[३]

उपचार

एक बार जब कारण को दूर कर दिया जाए, तो कार्य भी अपने आप ही समाप्त हो जाता है। परन्तु सभी अपेक्षाओं को सहसा त्याग देना इतना सहज नहीं है। अपेक्षाओं एवं आसक्तियों से छुटकारा पाने हेतु किसी को धीरता एवं दृढ़तापूर्वक कार्य करना पड़ता है। मन को अभिलाषा रखने की आदत से क्रमशः मुक्त रखना होगा। जब हम अपने मन का विश्लेषण करते हैं, तब पाते हैं कि स्वार्थ ही सब आकाक्षाओं के मूल में विद्यमान रहता है। जब हमारा जीवन आत्म-केन्द्रित होता है तो हम सभी चीजें स्वयं के लिए चाहते हैं। 'मेरी सुविधा, मेरा सुयोग, मेरा लाभ' – ये सब एक स्वार्थी मनुष्य के जीवन के पथ-प्रदर्शक सिद्धान्त बन जाते हैं। हममें से सभी इस आसक्ति के दर्द से त्रस्त हैं, यद्यपि हम मानें या न मानें, दिल ही दिल में अपना स्वार्थी होना खूब जानते हैं। यदि हमारे दिलों में स्वार्थपरता न होती तो हममें किंचिन्मात्र भी आसक्ति न होती। परन्तु हमारा अनुभव हमें यह बताता है कि इस जगत् की वस्तुओं से कहीं हमें आसक्ति है तथा वही हमारे जीवन में हमारे बन्धन एव दुःख का कारण बन बैठी है। उपाय इस स्वार्थपरता को दूर करने में ही निहित है। इसे किस तरह किया जाए ?

अन्धकार होने के एक हजार कारण हो सकना सम्भव है, परन्तु अन्धकार दूर करने का एकमात्र उपाय यह है कि प्रकाश को लाया जाए। उसी तरह, स्वार्थपरता के अनेकों कारण हो सकते हैं, परन्तु स्वार्थपरता को दूर करने का एकमात्र साधन है निःस्वार्थी बन जाना। आरम्भ में ऐसा लग सकता है कि निःस्वार्थपूर्वक कर्म करना कठिन है तथा सम्भवतः

लाभकर नहीं है। परन्तु स्वामीजी हमसे असन्दिग्ध रूप से कहते हैं कि निःस्वार्थता अवश्यमेव लाभकरी है। वे दर्शाते हैं, ''यदि कोई मनुष्य निःस्वार्थ भाव से कार्य करे, तो क्या उसे कोई फलप्राप्ति नहीं होती ? असल में तभी तो उसे सर्वोच्च फल की प्राप्ति होती है। और सच पूछा जाए, तो निःस्वार्थता अधिक फलदायी होती है, केवल लोगों में इसका अभ्यास करने का धैर्य नहीं होता। स्वास्थ्य की दृष्टि से भी यह अधिक लाभदायक है।''[१०]

स्वभाव से ही मानव-मन चैन एवं आराम का प्रेमी होता है। स्वार्थी मन शीघ्रता से इस ओर आकर्षित होता है। स्वार्थपरक जीवन कुछ सुविधाएँ जुटा लेता है तथा अस्थायी रूप से अकस्मात संतोष भी प्राप्त कर लेता है। परन्तु अन्ततोगत्वा स्वार्थी मनुष्य स्वजनों द्वारा ही उपेक्षित एवं बहिष्कृत होते हैं। अनेक स्थितियों में, लोग स्वार्थी मनुष्य के प्रति प्रतिरोधी बन जाते हैं एवं निरपवाद रूप से हम पाते हैं कि स्वार्थी मनुष्य का जीवन दुःख की एक लम्बी कहानी बनकर रह जाता है। आरम्भ में निःस्वार्थता का अभ्यास करना दुष्कर हो सकता है। परन्तु जीवन में कुछ भी सार्थक प्राप्त करने हेतु कठिनाइयों पर विजय तथा कठिन श्रम तो करना ही पड़ता है। इसलिए जीवन में निःस्वार्थता का आचरण करना वांछनीय है।

जीवन के सभी साहसिक उद्यमों में आरम्भिक बिन्दु ही अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। निःस्वार्थता के अभ्यास में अपनी कुछ सुविधाओं एवं अभिरुचियों का त्याग करना अपेक्षित रहता है। यदि हम अकस्मात् कठोर कदम उठाएँ एवं अपनी सभी सुख-सुविधाओं को तत्क्षणात् त्याग देने की कोशिश करें , तो इससे भयंकर प्रतिक्रिया उत्पन्न हो सकती है तथा हमारा मन उन्हीं सुख-सुविधाओं को पहले से भी ज्यादा दृढ़तापूर्वक पकड़ लेगा। इसलिए आरम्भ में, न्यूनतम प्रतिरोध वाले मार्ग को वरीयता देनी चाहिए तथा मनुष्य को महत् तथा निःस्वार्थ जीवन के लिए अधिकाधिक शक्ति बटोरते हुए धीमे परन्तु दृढ़तापूर्वक अग्रसर होना चाहिए।

जब हमारे जीवन पर स्वार्थता का प्रभुत्व होता है तब हम केवल खुद के लिए ही जीते हैं। अब इस स्वार्थपरता के चंगुल से छूटने के लिए हमें प्रणाली को उलट देना होगा। हमें दूसरों के लिए जीना शुरु करना होगा। यह वह मुद्दा है जहाँ से हमें निःस्वार्थता एवं अनासक्ति के आदर्श की ओर शुरुआत करनी होगी। जब हम दूसरों के लिए जीना सीखते हैं, केवल तभी हमारा यथार्थ जीवन शुरू होता है। कई वर्षों पूर्व, इसी सत्य को समझाते हुए, स्वामी विवेकानन्द ने शिकागो से मैसूर के राजा को अपने पत्र में लिखा था, ''हे महामना राजन्, यह जीवन क्षणस्थायी है, संसार के भोग-विलास की सामग्रियाँ भी क्षणभंगुर हैं। वे ही यथार्थ में जीवित हैं जो दूसरों के लिए जीवन धारण करते हैं बाकी लोगों का जीना तो मरने ही के बराबर है।''[११]

हमारा अहंकार भी हमारे आध्यात्मिक प्रकटीकरण एवं साक्षात्कार के मार्ग की सबसे बड़ी बाधाओं में से एक है। आध्यात्मिक जीवन में अग्रसर होने की आशा रखनेवाले मुमुक्षु को चाहिए कि वह इस बाधा को दूर कर डाले। दूसरों के लिए कर्म करते हुए, अस्थायी

रूप से ही क्यों न हो हम अपने आपको भूल जाते हैं तथा दूसरों की सेवा करने का भाव हमारे मन पर प्रभुत्व जमा लेता है। दूसरों की सेवा करने का भाव हमारी स्वार्थपरता की भावना को नियन्त्रित कर देता है। जब हम दूसरों के विषय में अधिक विचारते हैं, तब उनके लिए अधिक कर्म करते हैं। दूसरों के लिए अधिक कर्म करने से, हमारी स्वार्थपरता कम होने लगती है तथा समय के साथ अहकार क्षीण होता जाता है।

कर्मक्षेत्र में उतरने प्रर हम देखते हैं कि दूसरों के लिए कर्म करने में सामान्यतः हमारी रुचि नहीं होती। दूसरों के लिए निःस्पृह रूप से कर्म करना कठिन हो जाता है। इसलिए भी हम दिलचस्पी गवाँ बैठते हैं। वास्तव में, दूसरों के लिए बिना किसी स्वार्थी भावना के कर्म करना आरम्भ में कठिन होता है। परन्तु उसी मुद्दे को हमें पकड़कर रखना है। यद्यपि हम चाहें या न चाहें हमारी प्रवृत्ति हो या न हो, हमें दूसरों के लिए कर्म करते ही जाना है।

इस कठिनाई से उबरने तथा अन्ततः स्वार्थता के राक्षस को जीतने का यह एकमात्र मार्ग है। एकबार स्वामी विवेकानन्द का शिष्य उनके समक्ष इसी समस्या को लेकर उपस्थित हुआ था। स्वामीजी ने उससे कहा – "जैसे साधन-भजन का अभ्यास करते करते उस पर दृढ़ता हो जाती है, वैसे ही पहले अनिच्छा के साथ कर्म करते करते क्रमशः हृदय उसीमें मग्न हो जाता है, समझे ? तुम एकबार अनिच्छा के साथ ही औरों की सेवा कर देखो न, फिर देखो तपस्या का फल प्राप्त होता है या नहीं। परार्थ कर्म करने के फल से मन का टेढ़ापन नष्ट हो जाता है और वह मनुष्य निष्कपट भाव से औरों के मगल के लिए प्राण देने को भी तैयार हो जाता है।"[१२]

मनुष्य में सुख की अभिलाषा जन्मजात होती है। वास्तव में सब सुख मनुष्य के हृदय में रहता है। स्वार्थपरता ने हमारे हृदय के द्वार को अवरुद्ध कर दिया है। आनन्द पाने का रहस्य यह है कि इस बाधा को निकाल फेंको। स्वामीजी ने हृदय-द्वार के इस स्वार्थपरता-रूपी अड़ंगे को दूर हटाने का रहस्य हमें दिया है। वे कहते हैं - "अतएव, सच्चे सुख और यथार्थ सफलता का महान् रहस्य यह है कि बदले में कुछ भी न चाहनेवाला बिल्कुल निःस्वार्थी व्यक्ति ही सबसे अधिक सफल व्यक्ति होता है।"[१३]

एकबार जब हम निःस्वार्थी बन जाएँगे तो हमारे हृदय के द्वार खुल जाएँगे तथा हमारा सारा जीवन सुख एवं नित्य आनन्द से परिपूर्ण हो जाएगा। □

(आंग्ल मासिक 'वेदान्त केसरी' के अप्रैल, ८७ अंक से स्वामी उरुक्रमानन्द द्वारा अनूदित)

सन्दर्भ-सूची : (१) विवेकानन्द साहित्य, २/११; (२) गीता, २/२०; (३) गीता, २/२२; (४) विवेकचूड़ामणि, १३६; (५) विवेकानन्द साहित्य, ५/८; (६) गीता, ३/५; (७) विवेकानन्द साहित्य, ३/३५; (९) विवेकानन्द साहित्य, ३/ ३०; (१०) विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ३, पृ. ८); (११) पत्रावली, रामकृष्ण मठ, नागपुर, पृ.१३६); (१२) विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ६, पृ ७७); (१३) विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ९, पृ. १७८

दयामय श्रीरामकृष्ण तथा जटिल हाजरा

स्वामी उरुक्रमानन्द

एक दिन दक्षिणेश्वर में हाजरा ने श्रीरामकृष्ण को इस तरह सलाह दी, "देखो गदाधर! ऐसा करना तो भाई अच्छा नहीं है! ऐसा करने से लोग तुम्हें अधिक नहीं मानेंगे । कम से कम लोगों को दिखाने के लिए तो कुछ करो, मेरी तरह और नहीं तो माला लेकर जपो । इतने लोग यहाँ आते हैं, तुम्हें माला जपते देखकर वे इतना तो सोचेंगे ही कि तुम थोड़ा साधन-भजन करते हो ।"

हाजरा की इस बात पर ठाकुर हँसने लगे और लाटू, हरीश, गोपाल, रामलाल आदि को पुकार कर कहने लगे – "अजी सुनो तो, हाजरा क्या कहता है? मुझे माला जपने को कहता है – मैं तो भाई अब वह सब नहीं कर पाता । वह कहता है – माला नहीं जपते देखकर लोग तुम्हें मानेंगे नहीं । क्यों जी! हाजरा की बात ठीक है क्या?"

ठाकुर का यह कथन सुनकर सेवकगण हाजरा पर बड़े नाराज हुए । हरीश ने कहा – "उसकी बात छोड़ दीजिए । वह जैसा गँवार है, उसकी बुद्धि भी वैसी ही है ।"

ठाकुर ने हरीश से कहा – "नहीं जी, उसे गँवार-बुद्धि न कहो – माँ ही तो उसके मुख से कहलवा रही हैं ।"

हरीश – "आप भी क्या कहते हैं । माँ को भी और आदमी नहीं मिला, जो उन्होंने हाजरा के मुख से आपको बातें सुनायीं ।"

ठाकुर – "हाँ जी, माँ ऐसे ही बताया करती हैं ।"[१]

जिस व्यक्ति ने श्रीरामकृष्ण को धार्मिक दिखने हेतु माला जपने की सलाह दी, वह निश्चय ही बाहरी आडम्बरों द्वारा साधु होने का स्वांग रचते ही होंगे । हाँ, हाजरा समझते थे धार्मिक अनुष्ठान करना, माला लेकर जप करना, शास्त्र पढ़ना, माथे पर तिलक धारण करना इत्यादि ही धार्मिक जीवन है । श्रीरामकृष्ण जो यह कहते थे कि ईश्वर से प्रेम करना तथा उनका दर्शन करना ही धार्मिक जीवन एवं मानव-जीवन का उद्देश्य है, इसकी हाजरा को तनिक भी धारणा नहीं हो पाती थी । वे केवल कोरे विचार ही किया करते थे ।

आइये, हम देखें कि ये महाशय कौन थे? कहाँ से आए थे? एवं किस तरह से श्रीरामकृष्ण से सम्बन्धित थे?

हाजरा का पूरा नाम प्रतापचन्द्र हाजरा था । वह श्रीरामकृष्ण के जन्म-स्थान कामारपुकुर के निकट मरागोड़ ग्राम के निवासी थे । उनका जन्म लगभग १८४६ में हुआ था । उनके पिता एक साधारण किसान थे तथा हाजरा की प्रारम्भिक शिक्षा उनके ग्राम में ही हुई थी । उनका पालन-पोषण वैष्णव सम्प्रदाय के अनुकूल हुआ था । उनकी ईश्वर पर विशेष भक्ति नहीं थी । पिता की मृत्यु के पश्चात परिवार का दायित्व उनके कन्धों पर आ पड़ा था । व्यवसाय किसानी होते हुए भी उसमें हाजरा की कोई रुचि न थी । परिवार में उनकी माँ,

पत्नी तथा अनेक बच्चों के भार के फलस्वरूप करीब एक हजार रुपयों का कर्ज उनके सिर पर था। अपने को इन उद्योगों में असफल पाकर उन्होंने अन्ततः भगवान के नाम का जप आरम्भ किया। उनकी धारणा थी कि जप करने से ईश्वर धन प्रदान करेगा।

इन प्रतिकूल परिस्थितियों की पार्श्वभूमि में हाजरा महोदय पहले श्रीरामकृष्ण से उनके भानजे हृदयराम के ग्राम सिउड़ में १८८० में मिले थे। तत्पश्चात मरकट वैराग्य के वशीभूत हो १८८२ में जब पहले-पहल दक्षिणेश्वर काली-मन्दिर में आये और वहाँ रहना चाहा तब श्रीरामकृष्ण ने उनका भक्तिभाव देखकर और उन्हें अपने देश का परिचित मनुष्य जानकर, यत्नपूर्वक अपने पास रख लिया। वचनामृत में उल्लेख आता है –

"वे श्रीरामकृष्ण के दक्षिणपूर्ववाले बरामदे में आसन लगाकर बैठे हैं। वहीं माला लेकर बड़ी देर तक जप किया करते हैं। हाजरा का ज्ञानियों जैसा भाव है। श्रीरामकृष्ण का भक्तिभाव और लड़कों के लिए उनकी व्याकुलता उन्हें पसन्द नहीं। कभी-कभी वे श्रीरामकृष्ण को महापुरुष सोचते हैं और कभी-कभी साधारण आदमी।"[२]

श्रीरामकृष्ण वचनामृत के पाठकगण हाजरा नाम से भलीभाँति परिचित हैं ही। वार्तालाप के प्रसंग में श्रीरामकृष्ण तथा भक्तगण यदा-कदा हाजरा की चुटकी लिया करते थे क्योंकि हाजरा अपने आपको ज्ञानियों की श्रेणी में रखते थे। ऐसे ही प्रसंग में हम पाते हैं कि हाजरा महोदय सबके सम्मुख तत्वज्ञान की व्याख्या कर रहे हैं –

"हाजरा – तत्वज्ञान का अर्थ है चौबीस तत्वों का ज्ञान प्राप्त करना; चौबीस तत्व कौन-कौन से हैं? यह प्रश्न होता है? पंच भूत, छः रिपु, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्दिय – यही सब।

मास्टर – (श्रीरामकृष्ण से हँसकर) – ये बतलाते हैं, छः रिपु चौबीस तत्वों के भीतर हैं।

श्रीरामकृष्ण (हँसकर) – अब इसी से समझो। और देखो, तत्वज्ञान का कैसा अर्थ बतलाता है। तत्वज्ञान का अर्थ है आत्मज्ञान। तत् अर्थात परमात्मा, त्वं अर्थात जीवात्मा। जीवात्मा और परमात्मा के एक हो जाने पर तत्वज्ञान होता है।

हाजरा कुछ देर में घर से निकलकर बरामदे में जा बैठे।

श्रीरामकृष्ण (मास्टर आदि से) – वह बस तर्क करता है। अभी देखते ही देखते खूब समझ गया, परन्तु थोड़ी देर बाद फिर जैसे का तैसा।"[३]

यहाँ चौबीस तत्वों में अजूबे छः रिपुओं का समावेश करने तथा तत्वज्ञान की अजीबोगरीब व्याख्या करने में अपनी दाल को गलते न देखकर हाजरा ने सभा से पलायन करने में ही अधिक बुद्धिमानी समझी। इसलिये बरामदे में आकर बैठ गये।

भक्तगण भी हाजरा की शुष्क तार्किक बुद्धि से त्रस्त हो गये थे। श्रीरामकृष्ण भी यथासाध्य उनके जटिल तर्कों को सुलझाने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु उल्टी पेंदी के घड़े में पानी भला कब प्रवेश करता है? वचनामृतकार श्री 'म' को हम कहते पाते हैं –

"मास्टर – हाजरा महाशय बस यों ही कुछ ऊटपटांग बका करते हैं। देखता हूँ, बिना चुप रहे कुछ होगा नहीं।

श्रीरामकृष्ण – कभी-कभी पास आकर खूब मुलायम हो जाता है, परन्तु दुराग्रही ऐसा है कि फिर तर्क करने लगता है । अहंकार का मिटना बड़ा मुश्किल है । बेर का पेड़ अभी काट डालो, दूसरे दिन फिर पनपेगा और जब तक उसकी जड़ है, तब तक नयी डालियों का निकलना बन्द न होगा ।''

ऐसे अवसर भी आते थे जब हाजरा का शुष्क तार्किक ज्ञान श्रीरामकृष्ण की समाधि अवस्था तथा भक्तिभाव देखकर डोल जाया करता था । दक्षिणेश्वर में २३ दिसम्बर १८८४ को ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गयी थी ।

श्रीरामकृष्ण टहलते हुए कह रहे हैं – ''बटतल्ले के परमहंस को देखा था, इसी तरह हँसकर चल रहा था ! – वही रूप मेरा भी हो गया क्या?''

इस तरह टहलकर श्रीरामकृष्ण अपने छोटे तख्त पर जा बैठे और जगन्माता से बातचीत करने लगे ।

श्रीरामकृष्ण कह रहे हैं – ''खैर, मैं जानना भी नहीं चाहता । माँ, तुम्हारे पादपद्मों में मेरी शुद्धा भक्ति बनी रहे । (मणि से) क्षोभ और वासना के जाने से ही यह अवस्था होती है ।'' फिर माँ से कहने लगे – ''माँ, पूजा तो तुमने उठा दी, परन्तु देखो, मेरी सब वासनाएँ चली न जाएँ ! माँ, परमहंस तो बालक है – बालक को माँ चाहिये या नहीं? इसलिए तुम मेरी माँ हो, मैं तुम्हारा बच्चा । माँ का बच्चा माँ को छोड़कर कैसे रहे?

श्रीरामकृष्ण ऐसे स्वर से बातचीत कर रहे हैं कि पत्थर भी पिघल जाए । फिर माँ से कह रहे हैं – ''केवल अद्वैत ज्ञान ! थू थू ! जब तक 'मैं' रखा है, तब तक 'तुम' हो । परमहंस तो बालक है, बालक को माँ चाहिये या नहीं?'' हाजरा श्रीरामकृष्ण की यह अवस्था देख हाथ जोड़कर कहने लगे- ''धन्य है! धन्य है!''

श्रीरामकृष्ण हाजरा से कह रहे हैं – ''तुम्हें विश्वास कहाँ है? तुम तो यहाँ उसी तरह हो जैसे जटिला और कुटिला व्रज में थीं – लीला की पुष्टि के लिये ।''[५]

२२ जुलाई १८८३ को एक बार श्रीरामकृष्ण भावावस्था में कहते हैं – ''हाजरा को देखा शुष्क काष्ठवत् है । तब यहाँ क्यों है? इसका कारण है – जटिला कुटिला के रहने से लीला की पुष्टि होती है ।'' (जटिला-कुटिला : श्रीराधा की सास और ननद, आयन घोष की माता और बहन)[६]

यहाँ पर श्रीरामकृष्ण ने हाजरा की भूमिका की ओर इशारा किया है । कभी-कभी श्रीरामकृष्ण भी उनसे परेशान हो उठते थे क्योंकि वह उनके पास आनेवाले सरल बालकों को अपने तथाकथित ज्ञान से भ्रमित करने लगते थे । ऐसे अवसरों पर श्रीरामकृष्ण जगदम्बा से इस तरह प्रार्थना करते थे – ''तब मैंने प्रार्थना की, 'माँ, हाजरा यहाँ का (स्वयं का) मत उलट देना चाहता है । या तो तू उसे समझा दे या उसे यहाँ से हटा दे ।' उसके दूसरे दिन उसने आकर कहा, हाँ मानता हूँ । तब उसने कहा, विभु सब जगह हैं ।''

भवनाथ (हँसकर) – हाजरा की इसी बात पर आपको इतना दु:ख हुआ था?

श्रीरामकृष्ण – मेरी अवस्था बदल गई है । अब आदमियों के साथ वाद-विवाद नहीं कर

सकता । इस समय मेरी ऐसी अवस्था नहीं है कि हाजरा के साथ झगड़ा कर सकूँ । यदु मलिक के बगीचे में हृदय ने कहा,'मामा, क्या मुझे रखने की तुम्हारी इच्छा नहीं है?' मैंने कहा, 'नही, अब मेरी वैसी अवस्था नही है कि तेरे साथ गला फाड़ता रहूँ ।'[७]

हाजरा की इन विचित्रताओं के बावजूद श्रीरामकृष्ण उनसे सहानुभूति रखते थे एवं अनेक अवसरों पर भक्तों की उपस्थिति मे, हँसी-खेल में, हास-परिहास के वातावरण की सृष्टि किया करते थे । एक मजेदार घटना का उल्लेख वचनामृत में आता है जो २९ सितम्बर १८८४ को दक्षिणेश्वर में घटी थी –

गोलोकधाम (एक तरह का खेल) खेला जा रहा है । भक्त भी खेलते हैं और हाजरा भी खेलते हैं, श्रीरामकृष्ण आकर खड़े हो गए । मास्टर और किशोरी की गोटियाँ पक गईं। श्रीरामकृष्ण ने दोनों को नमस्कार किया । कहा – "तुम दोनों भाई धन्य हो! (मास्टर से एकान्त में) अब न खेलना ।"

श्रीरामकृष्ण खेल रहे हैं । हाजरा की गोटी एक बार नरक में पड़ी थी । श्रीरामकृष्ण ने कहा – "हाजरा को क्या हो गया । फिर !" अर्थात हाजरा की गोटी दुबारा नरक में पड़ी । इस पर सब लोग जोर से हँसने लगे ।

संसारवाले कोठे में लाटू की गोटी थी । एक बार ही सातों कौड़ियाँ चित्त पड़ीं, इससे एक ही चाल में गोटी लाल हो गई । लाटू मारे आनन्द के नाचने लगे । श्रीरामकृष्ण कह रहे हैं – "लाटू को कितना आनन्द है, जरा देखो । उसकी गोटी अगर लाल न होती तो उसको दुःख होता । (भक्तों से अलग) इसका एक अर्थ है । हाजरा को बड़ा अहंकार है कि इसमें भी मेरी जीत होगी । ईश्वर की इच्छा ऐसी भी होती है कि सच्चे आदमी की हार कहीं नहीं होती । कहीं भी उसका अपमान नहीं होने देते ।"[८]

प्रसंगवश श्रीरामकृष्ण हाजरा को चने के पेड़ पर चढ़ा दिया करते थे तथा उसके फूहड़पन का सभी मजा लिया करते थे ।

९ मई १८८५ को बलराम के दुमँजले बैठकखाने में श्रीरामकृष्ण हाजरा की बात कह रहे हैं – "सतोगुण से ईश्वर मिलते हैं, रजोगुण और तमोगुण ईश्वर से अलग कर देते हैं। सतोगुण की उपमा सफेद रंग से दी गई है, रजोगुण की लाल और तमोगुण की काले से। मैंने एक दिन हाजरा से पूछा, 'तुम बताओ, किसमें कितना सतोगुण हुआ है? उसने कहा, 'नरेन्द्र को सोलह आना और मुझे एक रुपया दो आना ।' मैंने अपने लिए पूछा, 'मुझमें कितना है? उसने कहा, 'तुम्हारी तो ललाई अभी हट रही है – तुम्हें बारह आना है ।' (सब हँसे)[९]

हाजरा के निराले ढंग से संस्कृत श्लोक उच्चारण के विषय में हम उन्हें कहते पाते हैं – (हँसते हुए रामलाल से) – क्यों रे रामलाल, हाजरा ने कैसे कहा था – अन्तस् बहिस् यदि हरिस् (सकार लगाकर)? कैसा किसी ने कहा था – 'मातारं भातारं खातारं'-अर्थात माँ भात खा रही है ।"

रामलाल (हंसते हुए) – अन्तर्बहिर्यदिहरिस्तपसा ततः किम्?

श्रीरामकृष्ण (मास्टर से) – इसका अभ्यास कर लेना । कभी-कभी मुझे सुनाना ।'

हाजरा की माता गाँव में बीमार पड़ी हैं । रामलाल से कहलवा भेजा है कि केवल एक बार हाजरा उनसे मिल आये । श्रीरामकृष्ण भी हाजरा को एक बार माँ को देख आने की सलाह दे रहे हैं ।

दक्षिणेश्वर में २६ अक्टूबर १८८४ को वचनामृत का वह प्रसंग उद्धृत है –

महिमाचरण (श्रीरामकृष्ण से सहास्य) – महाराज, आपसे एक निवेदन है, आपने हाजरा को घर जाने के लिए क्यों कहा? फिर संसार में जाने की उसकी इच्छा नहीं है ।

श्रीरामकृष्ण – उसकी माँ रामलाल के पास बहुत रोयी है । इसलिए मैंने कहा, तीन ही दिन के लिए चले जाओ, एक बार मिलकर फिर चले आना । माता को कष्ट देकर क्या कभी ईश्वर की साधना होती है? मैं वृन्दावन में रहता था, तब माँ की याद आई, सोचा, माँ रोएँगी, बस, सेजोबाबू के साथ यहाँ चला आया । संसार में जाते हुए ज्ञानी को क्या डर है?

महिमाचरण (सहास्य) – महाराज, हाजरा को ज्ञान हो तब न?

श्रीरामकृष्ण (सहास्य) – हाजरा को सब कुछ हो गया है । संसार में थोड़ा-सा मन है, कारण, बच्चे आदि हैं और कुछ ऋण है । 'मामी की सब बीमारी अच्छी हो गई है, एक नासूर रोग है ।'

(महिमाचरण आदि सब हँसते हैं ।)

महिमाचरण – कहाँ ज्ञान हुआ, महाराज?

श्रीरामकृष्ण (हँसकर) – नहीं जी, तुम नहीं जानते हो । सब लोग कहते हैं, हाजरा एक विशेष व्यक्ति हैं, रासमणि की ठाकुरबाड़ी में रहते हैं । सब लोग हाजरा का ही नाम लेते हैं, यहाँ का (अपने को लक्ष्य कर) नाम कौन लेता है?

हाजरा – आप निरुपम हैं, आपकी उपमा नहीं है, इसलिए आपको कोई समझ नहीं पाता ।

श्रीरामकृष्ण – वही तो, निरुपम से कोई काम भी नहीं निकलता, अतएव यहाँ का नाम कोई क्यों लेने लगा?

महिमा – महाराज, वह क्या जाने? आप जैसा उपदेश देंगे, वह वैसा ही करेगा ।

श्रीरामकृष्ण – नहीं, तुम चाहे उससे पूछ देखो, उसने मुझसे कहा है, तुम्हारे साथ मेरा कोई लेना देना नहीं है ।

महिमा – तर्क बहुत करता है ।

श्रीरामकृष्ण – वह कभी-कभी मुझे शिक्षा देता है । (सब हँसते हैं ।) जब तर्क करता है तब कभी मैं गाली दे बैठता हूँ । तर्क के बाद कभी मसहरी के भीतर लेटा हुआ रहता हूँ, फिर यह सोचकर कि मैंने कुछ कह तो नहीं डाला, निकल आता हूँ, हाजरा को प्रणाम कर जाता हूँ, तब चित्त स्थिर होता है ।

श्रीरामकृष्ण (हाजरा से) – तुम शुद्धात्मा को ईश्वर क्यों कहते हो? शुद्धात्मा निष्क्रिय है, तीनों अवस्थाओं का साक्षीस्वरूप है। जब हम सृष्टि, स्थिति और प्रलय के कार्यों की चिन्ता करते हैं, तभी ईश्वर को मानते हैं। शुद्धात्मा उसी तरह है जैसे दूर पर पड़ा हुआ चुम्बक पत्थर, सुई हिल रही है, परन्तु चुम्बक चुपचाप पड़ा हुआ है – निष्क्रिय है।"[११]

अनेक उपदेशों से, मीठी बातों से तथा सद्व्यवहार से सरल हृदय श्रीरामकृष्ण हाजरा को समझाते थे, परन्तु जटिल हाजरा उनकी परेशानी का ही कारण बन जाता था। बहुत-सी शुद्ध तथा सात्विक आत्माएँ जैसे नरेन्द्र, हरीश, गोपाल, भवनाथ, पूर्ण, नारायण, राखाल, लाटू आदि से श्रीरामकृष्ण विशेष स्नेह रखते थे। परन्तु हाजरा को यह नापसन्द था। ४ जून १८८३ वचनामृत में एक उल्लेख आता है –

श्रीरामकृष्ण – हाजरा मुझे उपदेश देता है कि तुम इन लड़कों के लिए इतनी चिन्ता क्यों करते हो? गाड़ी में बैठकर बलराम के मकान पर जा रहा था, उसी समय मन में बड़ी चिन्ता हुई। कहने लगा, 'माँ, हाजरा कहता है, नरेन्द्र आदि बालकों के लिए मैं इतनी चिन्ता क्यों करता हूँ, वह कहता है, ईश्वर की चिन्ता त्यागकर इन लड़कों की चिन्ता आप क्यों करते हैं?' मेरे यह कहते कहते अचानक माँ ने दिखलाया कि वे ही मनुष्य रूप में लीला करती हैं। शुद्ध आधार में उनका प्रकाश स्पष्ट होता है। इस दर्शन के बाद जब समाधि कुछ टूटी तो हाजरा पर बड़ा क्रोध हुआ। कहा, साले मेरा मन खराब कर दिया था। फिर सोचा, उस बेचारे का अपराध ही क्या है, वह यह कैसे जान सकता है? मैं इन लोगों में साक्षात नारायण देखता हूँ।[१२]

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रकट में न होते हुए भी हर कोई हाजरा महाशय से विरक्त हो गये थे। परन्तु यह आश्चर्य की बात है कि इन्हीं हाजरा महाशय को नरेन्द्रनाथ (स्वामी विवेकानन्द) विशेष रूप से पसन्द करते थे। नरेन्द्र देखते थे कि पाश्चात्य दर्शन के जटिल तर्कों को भी हाजरा कुछ-कुछ समझ जाया करता है। ये बात अलग है कि वे भी यदा-कदा उनपर मधुर कटाक्ष करते न चूकते थे। नरेन्द्र को एक बार हाजरा से यह कहते पाया गया – "तुम सचमुच एक सिद्ध पुरुष हो। अन्ततः मैंने एक तो ऐसे महात्मा को पाया जो सदैव माला जपते रहता है। तुम्हारी जपमाला भी अद्भुत है – कितने बड़े तथा चमकीले रुद्राक्ष के दाने हैं। तुम्हारे समान कोई नहीं। हाजरा ने यह सुना तो फूलकर गोलगप्पा हो गये तथा श्रीरामकृष्ण के भक्तों से कहने लगे, "तुम लोग मुझे पहचान नहीं सकते, श्रीरामकृष्ण भी नहीं। एकमात्र नरेन ने मुझे पहचाना है।"[१३]

एक बार श्रीरामकृष्ण ने नरेन्द्रनाथ से जीव-ब्रह्म की एकता के विषय में अनेक बातें कहीं। परन्तु नरेन्द्र ठीक से समझ न पाने के कारण हाजरा महाशय के पास जा बैठे तथा उस विषय में चर्चा करने लगे, "क्या यह भी सम्भव है? लोटा ईश्वर है, कटोरा ईश्वर है और जो कुछ दिखाई पड़ रहा है तथा हम सब ईश्वर हैं?" इस विषय पर परिहास करते हुए दोनों जोर से हँस पड़े। श्रीरामकृष्णदेव उस समय अर्धबाह्य अवस्था में थे। नरेन्द्र की हँसी सुनकर वे बालक की तरह पहनी हुई धोती बगल में दबाए बाहर निकल आए और 'तुम लोग क्या कर रहे हो' कहकर हँसते हुए नरेन्द्र को छूते ही समाधिस्थ हो गए। नरेन्द्र कहते

थे, ''उनके उस दिन के अद्भुत स्पर्श से मेरे भीतर क्षणभर में भावान्तर उपस्थित हो गया। स्तम्भित होकर सचमुच ही मैं देखने लगा – ईश्वर के अतिरिक्त ब्रह्माण्ड में अन्य कुछ भी नहीं है।''[१४]

दक्षिणेश्वर में हाजरा महाशय नौकरों तथा बावर्चियों से भी ठीक बर्ताव नहीं करते थे। केवल श्रीरामकृष्ण के कारण वे लोग उनका अपमान नहीं करते थे। इतना सब होने पर भी हाजरा महाशय हमेशा नरेन्द्र के स्नेह-पात्र ही रहे। नरेन्द्रनाथ को कई बार श्रीरामकृष्ण से हाजरा की पैरवी करते देखा गया हैं। वचनामृत में २४ अप्रैल १८८५ की घटना का वर्णन इस प्रकार है –

''नरेन्द्र (श्रीरामकृष्ण से) – हाजरा अब भला आदमी हो गया है।

श्रीरामकृष्ण – तुम नहीं जानते कि ऐसे लोग भी होते हैं जिनके मुँह में रामनाम रहता है पर बगल में छुरी होती है।

नरेन्द्र – महाराज, इस बात से मैं आपसे सहमत नहीं हूँ। मैंने स्वयं उऩ बातों की जाँच की जिनके बारे में लोग शिकायत करते हैं, पर उसने साफ इन्कार किया।

श्रीरामकृष्ण – वह भक्ति में जरुर दृढ़ है। थोड़ा बहुत जप भी करता है, पर कभी कभी उसका व्यवहार विचित्र होता है। गाड़ीवाले का भाड़ा नहीं देता।

नरेन्द्र – महाराज, ऐसी बात नहीं है वह कहता है उसने दे दिया है।

श्रीरामकृष्ण – उसके पास पैसा कहाँ से आया?

नरेन्द्र – रामलाल अथवा और किसी ने दिया होगा।

श्रीरामकृष्ण – क्या तुमने उससे सब बातें विस्तारपूर्वक पूछी थीं? एक बार मैंने प्रार्थना की थी, 'माँ! यदि हाजरा ढोंगी है, तो बड़ी कृपा होगी यदि तुम उसे यहाँ से हटा दो। उसके बाद मैंने हाजरा से कह भी दिया था कि मैंने तुम्हारे बारे में माँ से ऐसी प्रार्थना की है। थोड़े दिनों बाद वह फिर आया और मुझसे कहा, 'देखिए, मैं तो अब भी यहाँ बना हूँ। (श्रीरामकृष्ण तथा अन्य सब हँसे) पर शीघ्र ही कुछ दिनों बाद उसने यहाँ आना बन्द कर दिया। हाजरा की बेचारी माँ ने मेरे पास रामलाल द्वारा कहलाया कि मैं हाजरा से कह दूँ कि वह कभी-कभी जाकर अपनी बूढ़ी माँ को देख आया करे। वह बेचारी करीब करीब अन्धी ही थी और रोती रहती थी। मैंने उसे तरह तरह से समझाया कि वह जाकर देख आया करे। मैंने उससे कहा, 'देखो, तुम्हारी माँ वृद्धा है, कम से कम उसे एक बार जाकर तो देख आओ। पर मेरे कहने पर भी नहीं गया। अन्त में वह बेचारी बुढ़िया रोते रोते मर गई।

नरेन्द्र – पर इस बार वह घर जाएगा।

श्रीरामकृष्ण – हाँ हाँ, मुझे मालूम है वह घर जाएगा। वह बड़ा दुष्ट है। धूर्त है। तुम उसे नहीं जानते। गोपाल कहता था कि हाजरा सींती में कुछ दिन रहा था। लोग उसके लिए घी लाते थे, चावल लाते थे और भी तरह तरह की खाद्य-सामग्री उसे लाकर देते थे, पर उसकी उद्दण्डता तो देखो कि वह लोगों से कह देता था, 'मैं ऐसा मोटा चावल नहीं खा

सकता । मुझे ऐसा खराब घी नहीं चाहिए ।' भाटपारा का ईशान भी उसके साथ गया था । उसने ईशान से कहा, 'शौच के लिए पानी ले आओ ।' इससे वहाँ के अन्य ब्राह्मण उससे बहुत नाराज हो गए थे ।

नरेन्द्र – मैंने उससे वह बात पूछी थी । वह कहता था, ईशान बाबू मेरे लिये खुद पानी लाये थे । और इतना ही नहीं, वह कहता था कि भाटपारा के बहुत से ब्राह्मण लोग भी उसे मान देते हैं और श्रद्धा करते हैं ।

श्रीरामकृष्ण (मुस्कराते हुए) – वह सब उसके जप और तपस्या का फल था । तुम कहते हो कि तुम्हें लोगों की पहचान है, इसलिए यह सब तुम्हें बता रहा हूँ । जानते हो, हाजरा-ऐसे लोगों को मैं किस दृष्टि से देखता हूँ? जिस प्रकार ईश्वर सत्पुरुषों के रूप में अवतार लेता है उसी प्रकार वह धोखेबाज और दुष्टों के रूप में भी अवतीर्ण होता है ।[१५]

फिर भी न जाने क्यों, हाजरा पर नरेन्द्र की प्रीति सदा ही बनी रही तथा समय समय पर दोनों दक्षिणेश्वर में लम्बी हाँका करते थे जिसे देखकर लोग कहते थे – हाजरा महाशय नरेन्द्रनाथ के 'फेरेण्ड' (Friend) हैं ।''[१६]

दक्षिणेश्वर में ९ मई १८८५ को हाजरा की चर्चा चल रही है जबकि वे वहाँ मौजूद नहीं हैं । 'हाजरा के अहंकार की बात होने लगी । किसी कारण से दक्षिणेश्वर के कालीमन्दिर से हाजरा को चला जाना पड़ा ।'

नरेन्द्र – हाजरा अब मानता है कि उसे अहंकार हुआ था ।

श्रीरामकृष्ण – इस बात पर विश्वास न करना । दक्षिणेश्वर में फिर से आने के लिए उस तरह की बातें कर रहा होगा । (भक्तों से) नरेन्द्र केवल यही कहता है कि हाजरा तो बड़ा अच्छा है ।

नरेन्द्र – मैं अब भी कहता हूँ ।

श्रीरामकृष्ण – क्या इतनी बातें सुनने पर भी?

नरेन्द्र – दोष कुछ ही हैं, परन्तु गुण उसमें बहुत से हैं ।

श्रीरामकृष्ण – हाँ निष्ठा है । उसने मुझसे कहा – अभी तो मैं तुम्हें नहीं सुहाता, परन्तु पीछे से फिर मुझे खोजना होगा । ...[१७]

हाजरा के इस निराले 'फेरेण्ड' ने अन्त तक वह दोस्ती निभाई थी । १ जनवरी १८८६ को जब श्रीरामकृष्ण ने कल्पतरु बनकर अपने भक्तों पर अभूतपूर्व कृपावर्षण किया था तब हाजरा वहाँ न थे । हाजरा को जब विदित हुआ तो वे बड़े खिन्न हुए । उसी दिन बाद में सहृदय नरेन्द्र ने हाजरा को श्रीरामकृष्ण के समक्ष खड़ाकर उनपर दया करने के लिये बारम्बार आग्रह किया – तब दयामय श्रीरामकृष्ण ने कहा, 'उसका समय अभी आया नहीं हैं । उसे मृत्यु के समय कृपा प्राप्त होगी ।'[१८]

लाटू महाराज (स्वामी अद्भुतानन्द) कहते थे कि नरेन्द्र के कारण ही श्रीरामकृष्ण ने हाजरा पर कृपा की थी । श्रीरामकृष्ण ने अगस्त १८८६ में महासमाधि ले ली । इधर हाजरा

ज्यादा अहंकारी हुआ। वह अपने आपको ईश्वरावतार बताने लगा। १८९४ को दक्षिणेश्वर में जब श्रीरामकृष्ण-जयन्ती मनायी जा रही थी तो लोगों ने उन्हें उसी स्थान पर माला जपते देखा था। समय के थपेड़ों ने हाजरा को सही राह पर ला दिया। वह पुन: गाँव लौटा तथा उसकी पत्नी ने फिर से एक पुत्र तथा एक पुत्री को जन्म दिया। अब तक हाजरा श्रीरामकृष्ण की महिमा को जान गये थे तथा उनके शरणागत हुए थे। सभी हाजरा की मृत्यु के विषय में जानने के लिये उत्सुक थे। किसी ने श्री 'म' से पूछा, तो वे बोले – "हाजरा श्रीरामकृष्ण का नाम लेते लेते चल बसे।"[१९]

'युगावतार' के लेखक मानदाशंकर दासगुप्ता लिखते हैं – 'हाजरा की मृत्यु सन् १९०० में हुई, अन्त समय में श्रीरामकृष्ण के चित्र को छाती पर रखकर उन्हें देखते हुए उन्होंने प्राण त्यागे।'[२०]

बँगाली मासिक पत्रिका 'तत्त्वमंजरी' में हाजरा की मृत्यु का भिन्न तथा विस्तृत वर्णन आता है – "तीन दिनों से हाजरा को थोड़ा बुखार आ रहा था। अन्य कोई बीमारी न थी। गाँव का ही एक डाक्टर देखभाल कर रहा था। तीसरे दिन की संध्या को हाजरा ने अपनी पत्नी से कहा – 'देखो, तुम गाँववालों से जाकर कहो कि कल वे लोग हमारे घर ९ बजे के पहले आ जाएँ क्योंकि उसी वक्त मैं मरने वाला हूँ। पत्नी ने सोचा कि बीमारी की वजह से मति फिर गई है, इसलिए ऐसा बक रहे हैं। उसने ध्यान न दिया। जबकि अगले दिन सुबह पुन: हाजरा ने पत्नी से गाँव में ये खबर फैलाने हेतु कहा। कुछों ने हाजरा को सनकी जानकर परवाह न की, परन्तु कुछ तमाशा देखने के लिये जमा हो गये। करीब ८.३० बजे सुबह हाजरा माला लेकर जप करने लगे।

लोगों को लगा ये तो इनकी रोजमर्रा की आदत है। परन्तु अचानक उनके चेहरे के भाव में एक विलक्षण परिवर्तन दृष्टिगोचर हुआ तथा वह कुछ अलग ही व्यक्ति दिखने लगे। कुछ क्षणों के बाद हाजरा हठात् बोल उठे,"स्वागत है, स्वागत है, गुरुदेव। ये देखो गुरुदेव आ गये हैं। श्रीरामकृष्ण, आपने इतने दिनों के बाद मेरी सुधी ली। तब वह अपनी पत्नी से बोले : " शीघ्र ही एक आसन ले आओ। तुम देखती नहीं परमहंसदेव आए हैं?" उसकी पत्नी यूँही खड़ी रही। परन्तु जब बारम्बार हाजरा दुहराने लगे तो उसने अनिच्छा से एक आसन बिछा दिया।

तब श्रीरामकृष्ण को सम्बोधित करते हुए हाजरा ने कहा, "गुरुदेव, कृपया आसन पर बैठ जाएँ तथा मेरे मरने तक यहीं प्रतीक्षा करें। कृपया मुझपर दया करें।" ऐसा कहते हुए, हाजरा मन्त्रजाप करने लगे। कुछ देर पश्चात पुन: चिल्ला उठे :"आइये, रामदादा ! (रामचन्द्र दत्त, श्रीरामकृष्ण के एक शिष्य)। मैं कितना भाग्यशाली हूँ। हाजरा ने अपनी पत्नी से एक आसन बिछाने हेतु कहा जो उसने तत्काल किया। हाजरा हाथ जोड़कर रामचन्द्र से कहने लगे कि मेरी मृत्युपर्यन्त बैठे रहिए। तब पुन: वे मन्त्रजाप करने लगे। एक बार फिर कह उठे – "स्वागत है ! योगीन महाराज (स्वामी योगानन्द, श्रीरामकृष्ण के एक अनन्य शिष्य) आये हैं। ओह ! कितना आनन्दपूर्ण दिवस है !" उन्होंने फिर से एक आसन बिछाने के लिए कहा तथा योगानन्द से भी मृत्युपर्यन्त बैठे रहने हेतु प्रार्थना की।

तब उन्होंने श्रीरामकृष्ण से हाथ जोड़कर प्रार्थना की : "गुरुदेव, तुम मुझ पर कितने दयावान हो । एक और कृपा कीजिए । कृपया मेरे साथ इस तुलसी चौरे के समक्ष चलिए जहाँ पर मैं शरीर त्याग करना चाहता हूँ । हाजरा ने उन तीनों आसनों को तुलसी के पौधे के समीप रखने के लिए कहा । वहाँ पर जाकर उन्होंने तीनों से आसन ग्रहण करने के लिए प्रार्थना की तथा स्वयं अपने बिस्तर पर लेट गये । तब वे जप करने लगे तथा तीन बार 'हरि' 'हरि' 'हरि' का उच्चारण कर शरीर त्याग दिया । गाँववालों के आश्चर्य का ठिकाना नहीं था । उन्होंने शरीर को हिलाकर देखा जो निर्जीव था । तब उनके अन्तिम संस्कार की तैयारी की गयी । सभी ने हाजरा को महात्मा की संज्ञा दी ।"[२१]

हाजरा की अद्भुत मौत ने यह सिद्ध कर दिया कि अवतार एक कुटिल आत्मा के दुष्कर्म भी क्षण भर में काट देते हैं । दयामय श्रीरामकृष्ण ने अन्तिम समय में जटिल हाजरा की समस्त ग्रन्थियों को खोलकर अपने वचन को निभाया । श्रीरामकृष्ण-लीला में हाजरा ने हास्य एवं मनोरंजन की मिश्री घोलकर बखूबी अपनी भूमिका अदा की जिसके फलस्वरूप वे चिरस्मरणीय हो गये हैं । □

सन्दर्भ-सूची

१. श्री चन्द्रशेखर चट्टोपाध्याय, अद्भुत सन्त अद्भुतानन्द, नागपुर, १९९१, पृ. ६५-६६
२ श्रीरामकृष्ण वचनामृत, रामकृष्ण मठ, नागपुर, भाग २, पृ. ३२६
३. वचनामृत, भाग २, पृ. ४२०;
४. वचनामृत, भाग २, पृ. ४२२
५. वचनामृत, भाग १, पृ. ५९८-६००
६. वचनामृत, भाग १, पृ. ४०९
७. वचनामृत, भाग २, पृ. ३७५-७६
८. वचनामृत, भाग २, पृ. ३८३
९. वचनामृत, भाग ३, पृ. १५५-५६
१०. वचनामृत, भाग २, पृ. ४२२
११. वचनामृत, भाग २, पृ. ५५१-५३
१२. वचनामृत, भाग १, पृ. ३२३-२४
१३. Swami Adbhutananda : Teachings and reminiscences, Saint Louis, १९८०, p.३८
१४. श्रीरामकृष्ण लीलाप्रसंग, भाग ३, पृ. १२०; १५. वचनामृत, भाग ३, पृ. १४६-४८
१६. लीलाप्रसंग, भाग ३, पृ. ११८
१७. वचनामृत, भाग ३, पृ. १५५
१८. अक्षयकुमार सेन, श्रीश्रीरामकृष्ण पुँथी, उद्बोधन कलकत्ता, १९४९, पृ. ६०
१९. स्वामी जगन्नाथानन्द, श्रीम कथा, कलकत्ता १९५३, भाग २, पृ. १४६
२०. मानदाशंकर दासगुप्ता, युगावतार श्रीरामकृष्ण, कलकत्ता, १९७१, पृ. ४६८
२१. तत्त्वमंजरी, दिसम्बर १९३०, भाग ७ पृ. १४-१६
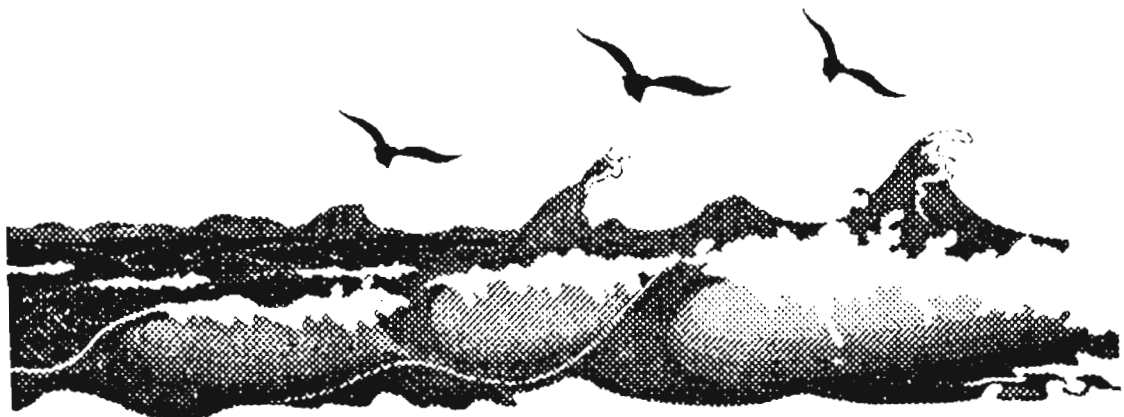
इंग्लैण्ड के एडिन्बरा विश्वविद्यालय में स्वामी विवेकानन्द की प्रतिमा

विगत २ जून, १९९८ को एक भव्य समारोह में भारत के सुप्रसिद्ध विधिवेत्ता तथा लन्दन के भूतपूर्व उच्चायुक्त डॉ. एल. एम. सिंघवी ने एडिन्बरा विश्वविद्यालय को स्वामी विवेकानन्द की एक प्रतिमा भेंट की । अनेक गणमान्य व्यक्तियों की उपस्थिति में प्राध्यापक स्टुअर्ट सदरलैण्ड ने विश्वविद्यालय की ओर से यह भेंट स्वीकार की । उस सभा में 'भारतीय विद्याभवन' के श्री एम. कृष्णमूर्ति तथा भारत के काउसिंल जनरल श्री पी. एल. गोयल भी उपस्थित थे । इस अवसर पर भारत तथा स्कॉटलैण्ड के सम्बन्धों पर प्रकाश डाला गया । इस समारोह के द्वारा स्कॉटलैण्ड तथा भारतीय विश्वविद्यालयों के कई नवीन शैक्षणिक परियोजनाओं को प्रोत्साहन मिला ।

विश्वात्मा की एक दिव्य स्वरलहरी

इस विशेष अवसर पर स्वामी रंगनाथानन्दजी महाराज ने निम्नलिखित सन्देश भेजा – "रोमाँ रोलाँ ने अपनी 'रामकृष्ण की जीवनी' में स्वामी विवेकानन्द तथा उनके गुरुदेव श्रीरामकृष्ण को 'विश्वात्मा की एक दिव्य स्वरलहरी' और अपनी 'विवेकानन्द की जीवनी' में उन्होंने स्वामीजी को 'समग्र मानवीय शक्तियों का समन्वय' बताया है । स्वामी विवेकानन्द ने भारतीय वेदान्त के प्राचीन तथा सनातन दर्शन तथा आध्यात्मिकता को पूर्व और पश्चिम के देशों में सर्वत्र प्रचारित किया । उन्होंने भारतीय दर्शन की उन प्रेरणादायी शिक्षाओं का प्रचार किया, जो मानव की अन्तर्निहित दिव्यता एवं सर्वधर्म-सद्भाव में विश्वास रखती हैं । कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर के अनुसार उन्होंने प्राच्य एवं पाश्चात्य की संस्कृतियों को स्वयं में समाहित कर लिया था । १८९७ में मद्रास में दिये गये 'हमारा प्रस्तुत कार्य' विषयक अपने भाषण में स्वामीजी ने भारत की वर्तमान परिस्थितियों का इन शब्दों में वर्णन किया – "केवल इंग्लैण्ड ही नहीं, बल्कि समग्र यूरोप को सभ्यता के लिए यूनान के प्रति ऋणी होना चाहिए, क्योंकि यूरोप के सभी भावों में मानो यूनान की ही प्रतिध्वनि सुनाई दे रही है । ... आज वे ही प्राचीन यूनान तथा प्राचीन हिन्दू भारतभूमि पर मिल रहे हैं । इस प्रकार धीर एवं नि:स्तब्ध भाव से एक परिवर्तन आ रहा है और आज हमारे चारों ओर जो उदार, जीवनप्रद पुनरुत्थान का आन्दोलन दिखाई दे रहा है, वह सब इन्हीं दो शक्तियों के सम्मिलन का फल है ।"

एक सेतु-निर्माता

भारत के राष्ट्रपति, श्री के. आर. नारायणयन् ने अपने सन्देश में कहा – "भारत के सर्वश्रेष्ठ मनीषी स्वामी विवेकानन्द ने अद्वैत वेदान्त को व्यावहारिक रूप देकर देश की प्राचीनतम सभ्यता की आध्यात्मिक परम्परा को पुनर्जीवित कर उसे गौरवान्वित किया ।

उन्होंने पाश्चात्य देशों के अनुरागी श्रोताओं में सहिष्णुता के मूल्यों का प्रचार किया । प्राय: एक शताब्दी पूर्व शिकागो की धर्ममहासभा में उन्होंने घोषणा की, "हम न केवल सार्वभौमिक सहिष्णुता में विश्वास रखते हैं, अपितु हम सभी धर्मों को सत्य के रूप में भी स्वीकार करते हैं ।" स्वामीजी ने प्राचीन तथा आधुनिक भारत के बीच, भारत तथा पाश्चात्य के बीच तथा आध्यात्मिक जागृति तथा सामाजिक जिम्मेदारियों के बीच एक सेतु का निर्माण किया । उनका जीवन तथा शिक्षाएँ अग्निमयी भावों से युक्त थीं । उन्होंने चालीस वर्ष की अल्पायु में ही अपनी इहलीला समाप्त कर दी, तथापि इस शताब्दी तथा आनेवाली पीढ़ियों के विचारप्रवण तथा क्रियाशील लोगों के लिए एक अमिट प्रभाव छोड़ गये ।

"विवेकानन्द एक ऐसे ऋषि थे, जिन्हें अपने क्रान्तिकारी परन्तु व्यावहारिक विचारों को रूपायित करने की शीघ्रता थी । अपने देशवासियों की शैक्षणिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक जरुरतों की पूर्ति के लिए सेवा के माध्यम के रूप में उन्होंने १८९७ में रामकृष्ण मिशन की स्थापना की । उन्होंने दावा किया, 'लोगों में शिक्षा तथा बौद्धिकता फैलने पर ही देश की सर्वतोमुखी प्रगति सम्भव है ।' लोगों में जागृति एवं महत उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए उन्होंने महिलाओं के उद्धार को महत्व दिया । समाजिक रूपान्तरण के साधनरूप में देश के युवावर्ग पर ही उनका असीम विश्वास था । उनकी शिक्षाओं में भय तथा दुर्बलता के परित्याग पर विशेष बल दिया गया है । उन्होंने कहा, 'इस संसार में यदि कोई पाप है, तो वह दुर्बलता ही है, सभी प्रकार की दुर्बलताओं का त्याग करो, दुर्बलता ही पाप है, दुर्बलता ही मृत्यु है ।' उन्होंने अमेरिका तथा यूरोप की यात्रा की और मिस्र, चीन तथा जापान भी गये । वे जहाँ भी गये अपना उत्साहपूर्ण सन्देश साथ ले गये और बदले में उन-उन स्थानों से भी प्रभावित हुए । १८९५ में वे इंग्लैंड गये थे और वहाँ अंग्रेजों का सौहार्दपूर्ण स्वागत पाकर उन्हें आश्चर्यपूर्ण हर्ष हुआ था ।

"मुझे प्रसन्नता है कि इंग्लैंड में भारत के भूतपूर्व उच्च कमिश्नर तथा विधिवेत्ता डॉ. एल. एम. सिंघवी एडिन्बरा में स्वामी विवेकानन्द की प्रतिमा का अनावरण करने जा रहे हैं । मेरी कामना है कि यह प्रतिमा हमें सर्वदा स्वामी विवेकानन्द के आपसी सौहार्द, मैत्री, समझ, समाज-सुधार तथा मानवसेवा के सन्देश का स्मरण कराती रहे ।"

भारतीय पुनर्जागरण के मसीहा

भारत के प्रधानमत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने इस अवसर पर अपने सन्देश में लिखा - "मुझे यह जानकर अत्यन्त हर्ष हो रहा है कि भारतीय स्वाधीनता की स्वर्ण-जयन्ती के शुभ अवसर पर, २ जून १९९८ को एडिन्बरा नगर तथा विश्वविद्यालय की ओर से वहाँ स्वामी विवेकानन्द की एक प्रतिमा स्थापित की जा रही है ।

"स्वामी विवेकानन्द भारतीय नवजागरण तथा पुनरुत्थान के सर्वश्रेष्ठ प्रवक्ता थे । उन्होंने भारतीय दर्शन तथा आध्यात्मिक परम्परा को मानवता के समकालीन आवश्यकताओं के अनुसार परिचालित किया । उन्होंने भारत में नवजागरण का सूत्रपात किया तथा विदेशों में भारत की छवि को बड़ी ही गहन प्रतिभा के साथ प्रस्तुत किया । उनका जीवन तथा

शिक्षाएँ भारतीय विरासत के श्रेष्ठ तत्त्वों की सजीव अभिव्यक्ति हैं । उनके अवदान से भारत की उज्ज्वल उदारता आलोकित हुई है । मेरी कामना है कि वह हमें इस नयी सहस्राब्दी के जगत में प्रेरित करती रहे ।

"एडिन्बरा में स्वामी विवेकानन्द की प्रतिमा-स्थापन-समारोह की पूरी सफलता की मैं कामना करता हूँ और साथ ही इस कार्य में अग्रणी भूमिका निभाने के लिए डॉ. एल. एम. सिंघवी और एडिन्बरा नगर तथा विश्वविद्यालय को भी बधाई देता हूँ ।

हिन्दू-धर्म के उद्धारक

भारत के भूतपूर्व राष्ट्रपति श्री आर. वेंकटरामन् ने अपने सन्देश में कहा - "स्कॉटलैण्ड की राजधानी एडिन्बरा में स्वामी विवेकानन्द की प्रतिमा-अनावरण-समारोह के अवसर पर एडिन्बरा विश्वविद्यालय तथा नगर को बधाई देते हुए मुझे अपार प्रसन्नता हो रही है । स्वामी विवेकानन्द न केवल भारत के महान सपूतों में एक थे, बल्कि वे सार्वभौमिक भ्रातृत्व के सन्देशवाहक भी थे । वे कोई साधारण संन्यासी नहीं थे । ऐसे महापुरुष हजारों वर्षों में एकाध ही होते हैं । स्वामी विवेकानन्द जब अपनी युवावस्था में एक विरक्त संन्यासी बनकर आत्मानुसंधान में तल्लीन रहना चाहते थे, तो उनके गुरुदेव श्रीरामकृष्ण ने पूछा, 'तुम अपनी स्वयं की मुक्ति के लिए ही इतने प्रयत्नशील क्यों हो? परमात्मा तो प्रत्येक मनुष्य में विद्यमान हैं । सभी मनुष्यों को परमात्मा का ही प्रतिरूप मानना चाहिए ।' डॉ. राधाकृष्णन् ने इसी भाव को प्रतिध्वनित करते हुए कहा था, 'मनुष्य ईश्वर के ही समान तथा उनकी प्रतिमूर्ति है ।'

"स्वामी विवेकानन्द ने यह सन्देश सारे विश्व में फैलाया । सौ वर्ष पूर्व शिकागो की धर्म-महासभा में उपस्थित श्रोताओं को 'भाइयो और बहनो' के रूप में सम्बोधित करते हुए उन्होंने मानव के सार्वभौमिक भ्रातृभाव को रेखांकित दिया था । जहाँ प्रत्येक प्रतिनिधि अपने धर्म को ही श्रेष्ठ बताकर अन्य धर्मों निकृष्ट बता रहा था, वहीं स्वामीजी ने कहा कि सभी धर्म समान रूप से सम्माननीय हैं तथा वे उसी एक परम तत्व तक पहुँचने के विभिन्न मार्ग हैं । स्वामी विवेकानन्द आमूल सामाजिक सुधार के हामी थे । वे उन दिनों प्रचलित बाल-विवाह प्रथा के विरोधी थे । परम्परा से ही गृहस्थी में आबद्ध रहनेवाली नारीजाति के लिए भी उन्होंने संन्यासिनी-संघ की व्यवस्था की ।

"भगवान बुद्ध की ही भाँति स्वामीजी भी लोगों का दारिद्र्य तथा दुःख देखकर अत्यन्त द्रवीभूत हो उठते थे । उन्होंने घोषित किया, 'मैं ऐसे धर्म या ईश्वर में विश्वास नहीं रखता, जो विधवाओं के आँसू नहीं पोंछ सकता और अनाथ के मुख में रोटी का टुकड़ा नहीं पहुँचा सकता ।' उन्होंने कहा था, 'तुमने पढ़ा है - "मातृदेवो भव - माँ ईश्वर हैं । पितृदेवो भव - पिता ईश्वर हैं । परन्तु मैं कहता हूँ - दरिद्रदेवो भव - गरीब तथा दीन-हीन लोग ईश्वर हैं ।' महात्मा गाँधी ने भी गरीबों को दरिद्रनारायण कहा था ।

"स्वामी विवेकानन्द का व्यक्तित्व प्रभावशाली था, आवाज धीर-गम्भीर थी, वाग्मिता भावोत्तेजक थी और आँखें सम्मोहक थीं । उन्होंने भारत तथा विदेशों में श्रोताओं को

मोहित तथा मंत्रमुग्ध कर दिया था । सुप्रसिद्ध दार्शनिक तथा राजनेता श्रीयुत सी राजगोपालाचारी ने स्वामी विवेकानन्द के महत्वपूर्ण योगदान को निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया है – 'उन्होंने हिन्दूधर्म तथा भारत की ही रक्षा की, ... अतः हम सब कुछ के लिए स्वामी विवेकानन्द के ऋणी हैं ।' मनुष्य अपनी आदिम पाशविक अवस्था से सभ्य मानव के रूप में विकसित हुआ है । मेरी कामना है कि यह प्रतिमा आनेवाली पीढ़ियों को मानवता से दिव्यता की ओर प्रगति करने की प्रेरणा देती रहे ।"

विज्ञान के साथ आध्यात्मिकता

भारतीय विद्याभवन के अध्यक्ष श्री सी. सुब्रह्मण्यम ने अपने सन्देश में कहा – "यह जानकर मैं अत्यन्त प्रसन्न हूँ कि २ जून १९९८ को एडिन्बरा विश्वविद्यालय में स्वामी विवेकानन्द की एक प्रतिमा की स्थापना होने जा रही है । इस अवसर पर मैं डॉ. एल. एम. सिंघवी को बधाई देना चाहूँगा, जिनके प्रयासों से यह सम्भव हो सका है । इसके पूर्व वे लन्दन में भी स्वामी विवेकानन्द की एक प्रतिमा की स्थापना करा चुके हैं ।

"स्वामी विवेकानन्द एक महान आध्यात्मिक विभूति थे, जिन्होंने संस्कृति तथा अध्यात्म के क्षेत्र में भारत के पुनरुत्थान में महत्वपूर्ण योगदान किया । १८९३ में शिकागो में आयोजित विश्वधर्म-महासभा में प्रदत्त उनका व्याख्यान मानवीय इतिहास में एक मील का पत्थर है । उन्होंने देखा कि विज्ञान में मानवता की सहायता करने की सम्भावना विद्यमान है । साथ ही उन्हें कोरे भौतिकवादी दृष्टिकोण के खतरों का भी आभास हुआ था । अपने सुप्रसिद्ध व्याख्यान में उन्होंने घोषणा की, 'विज्ञान तथा आध्यात्मिकता के समन्वय पर ही मानवता का भविष्य निर्भर है ।' विश्व की ऐतिहासिक घटनाओं से उनके इस कथन की यथार्थता अधिकाधिक सिद्ध होती जा रही है । विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी द्वारा निर्मित अत्यन्त घातक शस्त्रों का प्रयोग करते हुए यह संसार दो भयंकर युद्धों की त्रासदी झेल चुका है । विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी एक ओर जहाँ हितकर सिद्ध हुई है, वहीं दूसरी ओर उसने नीति तथा सदाचार विषयक मूल्यों में अवनति ला दी है । हम आशा करते हैं कि ज्ञानयुग के रूप में उभरने की सम्भावना रखनेवाली २१वीं सदी स्वामी विवेकानन्दजी की इस चेतावनी पर ध्यान देगी – 'आध्यात्मिकता के अभाव में विज्ञान विनाशकारी सिद्ध होगा'।"

(ग्लासगो स्थित भारत के काउँसिल जनरल के रिपोर्ट से संकलित)